1 अथ प्रथमोपदेश: (पहला अध्याय) 1
2 द्वितीय अध्याय (आसन वर्णन) 11
3 तृतीय अध्याय (मुद्रा प्रकरण) 16
4 चौथा अध्याय (प्रत्याहार वर्णन) 22
5 पाँचवा अध्याय (कुम्भक / प्राणायाम वर्णन) 22
6 छटा अध्याय (ध्यान वर्णन) 33
7 सातवां अध्याय (समाधि योग) 34

1 अथ प्रथमोपदेश: (पहला अध्याय)

अथ षट्कर्म साधना प्रकरणम् (अब षट्कर्म योग साधना का वर्णन किया जाता है)

घेरण्ड संहिता के इस पहले अध्याय में केवल षट्कर्मों का ही वर्णन किया गया है। महर्षि घेरण्ड ने षट्कर्म को योग के पहले अंग के रूप में माना है। इनका मानना है कि साधक को पहले शरीर की शुद्धि करनी चाहिए और उसके बाद अन्य योग साधना। अतः प्रस्तुत है घेरण्ड संहिता का प्रथम उपदेश (अध्याय)।

घटस्थयोगकथनम्

एकदा चन्डकापालिर्गत्वा घेरण्डकुट्टिरम्। प्रणम्य विनयाद् भक्त्या घरेण्डं परिपृच्छति ॥1॥

भावार्थ :- एक दिन चन्डकापालि नाम का एक राजा योगी महर्षि घेरण्ड की कुटिया में जाते हैं और महर्षि घेरण्ड को भक्तिपूर्ण भाव से प्रणाम करते हुए उनसे पूछते हैं।

विशेष :- घेरण्ड संहिता नामक इस पूरे ग्रन्थ में महर्षि घेरण्ड व राजा चन्डकपालि के बीच में होने वाले संवाद का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के विषय में बहुत बार परीक्षा में पूछा भी जाता है कि घेरण्ड संहिता ग्रन्थ में किन दो व्यक्तियों के बीच में संवाद हुआ है ? जिसका उत्तर हमें इसी पहले श्लोक में ही मिलता है (राजा चन्डकपालि व महर्षि घेरण्ड के बीच)। दूसरा इस ग्रन्थ को संवादात्मक ग्रन्थ भी कहा जाता है। संवादात्मक ग्रन्थ का अर्थ होता है किन्ही दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच में होने वाली बातचीत। इस पूरे ग्रन्थ में राजा चन्डकपालि जिज्ञासु व महर्षि घेरण्ड को योग विद्या का ज्ञान देने वाले ऋषि के रूप में दर्शाया गया है।

घटस्थ योग कथन

घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्य कारणम्। इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगीश्वर वद प्रभो ॥2॥

भावार्थ :- हे योगीश्वर ! (योग के स्वामी) इस शरीर के द्वारा की जाने वाली योग साधना जिससे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। मैं उस योग साधना को आपसे सुनना चाहता हूँ। हे योगीश्वर ! आप मुझे उस योग विद्या का उपदेश देने की कृपा करें।

साधु साधु महाबाहो यन्मान्त्वं परिपृच्छसि। कथयामि हि ते वत्स सावधानाऽवधारय ॥3॥

भावार्थ :- हे महान बल वाले महावीर ! तुम्हे बहुत बहुत साधुवाद है जो तुमने मुझसे इस विषय के बारे में पूछ रहे हो। अतः हे वत्स (पुत्र) अब मैं उस योगविद्या का उपदेश करूँगा। तुम पूरी तरह से एकाग्रचित्त होकर उसे धारण करना अथवा सुनना।

नास्ति मायासम: पाशो नास्ति योगात्परं बलम्। नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परो रिपु: ॥4॥

भावार्थ :- माया (धन-वैभव, पत्नी-पुत्र आदि) से बड़ा कोई भी दुःख नहीं है, योग से बड़ा कोई भी बल (ताकत) नहीं है, ज्ञान से बड़ा कोई भी मित्र नहीं है और अहंकार से बड़ा कोई भी दुश्मन नहीं है।

विशेष :- इस श्लोक में माया को सबसे बड़ा दुःख, योग को सबसे बड़ा बल, ज्ञान को सबसे बड़ा मित्र (सहायक) व अहंकार को सबसे बड़ा दुश्मन बताया है।

अभ्यासात्कादिवर्णानि यथा शास्त्राणि बोधयेत्। तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानञ्च लभ्यते ॥5॥

भावार्थ :- जिस प्रकार 'क' आदि वर्णमाला (अक्षरों) को जानने से हमें शास्त्रों का ज्ञान हो जाता है। ठीक उसी प्रकार योग में सिद्धि अथवा सफलता प्राप्त करने से साधक को तत्त्वज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

सुकृतैर्दुष्कृतै: कार्यैर्जायते प्राणिनां घट:। घटादुत्पद्यते कर्म घटियन्त्रं यथा भ्रमेत् ॥6॥

भावार्थ :- मनुष्य का शरीर अच्छे व बुरे कर्मों का परिणाम है अर्थात् इस मानव शरीर की उत्पत्ति अच्छे व बुरे कर्मों से ही होती है। जिस प्रकार घटियन्त्र (पुराने समय में बैलों के सहारे जमीन से पानी निकालने वाला यत्र जिसे रहट कहा जाता था) ऊपर से नीचे की ओर घूमता रहता है। उसी प्रकार हमारा शरीर कर्म करता रहता है और उन्हीं कर्मों के कारण शरीर की उत्पत्ति होती रहती है। यह एक प्रकार का जीवन चक्र है जो रहट की तरह लगातार घूमता रहता है।

ऊर्ध्वाधो भ्रमते यद्वद् घटियन्त्रं गवां वशात्। तद्वत्कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्ममृत्युभि: ॥7॥

भावार्थ :- जिस तरह घटियन्त्र के लगातार घूमने के कारण उसके पात्र (जिनमें पानी आता है) ऊपर से नीचे की ओर घूमते रहते हैं। ठीक उसी तरह मनुष्य भी अपने कर्मों (अच्छे व बुरे अथवा कृष्ण व शुक्ल कर्म) के कारण जन्म व मृत्यु के चक्कर लगाता रहता है।

विशेष :- योग शास्त्रों में चार प्रकार के कर्म बताए गए हैं। जिनमें कृष्ण कर्म (बुरे कर्म), शुक्ल कर्म (अच्छे कर्म), कृष्णाशुक्ल कर्म (अच्छे व बुरे अर्थात् मिश्रित कर्म) व अशुक्ल-अकृष्ण कर्म (अच्छाई व बुराई से रहित कर्म) होते हैं। इनमें से पहले वाले तीन कर्म ही जन्म व मृत्यु का कारण होते हैं अर्थात् जब तक मनुष्य ऊपर वर्णित तीन प्रकार के कर्म करता रहता है तब तक वह जन्म-मरण के चक्कर में लगा रहता है। इनसे विपरीत चौथे प्रकार के कर्म (अशुक्ल-अकृष्ण) ही योगी के कर्म होते हैं। जो जन्म-मरण के बन्धन को तोड़कर मोक्ष प्रदान करवाते हैं। इसीलिए इस श्लोक में अच्छे व बुरे कर्मों को जन्म-मरण का कारण कहा गया है।

आमकुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाण: सदा घट:। योगानलेन सन्दह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ॥8॥

भावार्थ :- जिस प्रकार कच्चे घड़े में पानी डालने से वह निरन्तर गलना शुरू हो जाता है। उसी कच्चे घड़े के समान मनुष्य का शरीर की प्रतिक्षण कमजोर होता रहता

है। उस शरीर रूपी घड़े को योग रूपी अग्नि में तपाने से वह पूरी तरह से शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार घड़े को अग्नि में तपाने के बाद वह पानी से गलता नहीं है। ठीक उसी प्रकार इस श्लोक में योग को अग्नि का रूप और शरीर को घड़े का रूप माना गया है।

सप्तांग योग (योग के सात अंग)

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यञ्च लाघवम्। प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तञ्च घटस्य सप्तसाधनम्॥9॥

भावार्थ :- शरीर को परिपक्व करने के लिए योग के सात अंगों की चर्चा की गई है। जो इस प्रकार हैं – शोधन, दृढता, स्थिरता, धैर्य (धीरता), लघुता (हल्कापन), प्रत्यक्षीकरण व निर्लिप्तता। अगले श्लोकों में इन सभी अंगों से सम्बंधित यौगिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है।

सप्त (योग) साधनों के लाभ

षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम्। मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥10॥

प्राणायामाल्लाघवञ्चध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनि। समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेवं न संशय:॥11॥

भावार्थ :- षट्कर्म अर्थात् छ: शुद्धि क्रियाओं के अभ्यास से शुद्धि, आसनों के अभ्यास से मजबूती, मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से धैर्य (धीरता), प्राणायाम से हल्कापन, ध्यान से प्रत्यक्षीकरण (साक्षात्कार) और समाधि से निर्लिप्तता (मुक्ति) की प्राप्ति होती है। इनमें किसी प्रकार का कोई सन्देह (शक) नहीं है।

विशेष :- योग के सात अंगों से साधक को अलग-अलग प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है। जिनको परीक्षा की दृष्टि से अति उपयोगी माना जाता है। इसके लिए हम यहाँ पर इनको सार रूप में भी लिख रहे हैं।

षट्कर्म = शोधन

आसन = दृढता (मजबूती)

मुद्रा = स्थिरता

प्रत्याहार = धैर्य (धीरता)

प्राणायाम = लघुता (हल्कापन)

ध्यान = प्रत्यक्षीकरण (साक्षात्कार)

समाधि = निर्लिप्तता (मुक्ति या मोक्ष)

षट्कर्म वर्णन

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥12॥

भावार्थ :- योग साधक को धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी (नौलि), त्राटक व कपालभाति नामक इन छ: प्रकार की शुद्धि क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष:- महर्षि घेरण्ड ने षट्कर्मों को योग के पहले अंग के रूप में मान्यता दी है। उनका कहना है कि योग साधक को सबसे पहले षट्कर्मों द्वारा अपने शरीर का शुद्धिकरण करना चाहिए। इसके बाद ही साधक अन्य प्रकार की योग साधना करने के योग्य होता है। षट्कर्मों को मुख्य रूप से प्रचारित करने का श्रेय भी घेरण्ड ऋषि को ही जाता है। इन्होंने छ: षट्कर्मों के भी अलग-अलग प्रकारों का वर्णन करके इसको घेरण्ड संहिता के एक पूरे अध्याय का रूप देकर इनकी उपयोगिता को दर्शाया है।

धौति के प्रकार

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम्। धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम्॥13॥

भावार्थ :- इस श्लोक में धौति के चार प्रकार बताते हुए कहा है कि अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृदयधौति व मूलशोधन यह धौति के चार प्रकार हैं। साधक को इनका अभ्यास करके अपने शरीर की शुद्धि करनी चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में षट्कर्म के पहले अंग अर्थात् धौति के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है। धौति मुख्य रूप से चार प्रकार की होती है और यदि धौति के इन चार प्रकारों के भी अलग-अलग प्रकारों या भेदों की बात करें तो इनकी कुल संख्या तेरह (13) हो जाती है। परीक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी है। जिसे ऊपर दिये गए डायग्राम द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

अन्तर्धौति के प्रकार

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम्। घटस्य निर्मलार्थाय अन्तधौतिश्चतुर्विधा॥14॥

भावार्थ :- शरीर को शुद्ध करने के लिए साधक को अन्तर्धौति की निम्न चार प्रकार अथवा विधियों (वातसार, वारिसार, वह्निसार (अग्निसार) और बहिष्कृत) का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- धौति के चार प्रकारों में सबसे पहले प्रकार अर्थात् अन्तर्धौति के भी चार भेद बताये गये हैं। इनके क्रम व संख्या को परीक्षा की दृष्टि से बहुत उपयोगी माना जाता है। अत: विद्यार्थी इनको अच्छी प्रकार से याद करें। आगे के श्लोकों में इन सभी की विधि व इनसे मिलने वाले लाभ बताये जायेंगे।

वातसार धौति विधि

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद् वायुं शनै:शनै:। चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनै:॥15॥

भावार्थ :- साधक को अपने मुहँ को कौवे की चोंच की तरह बनाकर उससे धीरे-धीरे से प्राणवायु को पीना चाहिए अर्थात् प्राणवायु को शरीर के अन्दर ग्रहण करना चाहिए। फिर अपने पेट को चलाते हुए (आगे-पीछे या दायें से बायीं ओर घुमाते हुए) उस वायु को पीछे अर्थात् गुदा मार्ग से धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए।

विशेष :- वातसार को याद रखने के लिए विद्यार्थी वातसार शब्द को पहले दो अलग-अलग भागों वात और सार में बाट ले। वात का अर्थ है वायु और सार का अर्थ है उसका निचोड़। अब इसे आसानी से याद किया जा सकता है कि वायु को पीकर उसको निचोड़ देना चाहिए। निचोड़ने का अर्थ होता है उसके उपयोगी तत्त्व को निकाल लेना। जब हम किसी पदार्थ के आवश्यक तत्त्व को निकाल लेते हैं तो उसके बाद उस पदार्थ का क्या करते हैं ? निश्चित रूप से हम उसे अवशिष्ट पदार्थ की तरह फेंक देते हैं। इसे एक उदाहरण से समझते हैं। जैसे एक नींबू के रस को निचोड़ने के बाद जिस प्रकार उसके छिलके को हम फेंक देते हैं। ठीक उसी प्रकार जब

हमने वायु को पेट में चलाकर उसके सार को ग्रहण कर लेते हैं तो उसे भी हम निश्चित रूप से बाहर ही फेंकेते हैं। और जिस वायु का शरीर के भीतर प्रयोग कर लिया गया हो तो उसका निष्कासन तो नीचे अर्थात् गुदा मार्ग से ही किया जाएगा। ऐसे ही हम भोजन को ग्रहण करके उसके रस को पचाकर बाकी बचे हुए अवशिष्ट को गुदा मार्ग द्वारा ही बाहर निकाल देते हैं। इस उदाहरण द्वारा आप इसकी विधि को आसानी से याद रख सकते हैं।

वातसार धौति लाभ

वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम्। नाशयेत्सकलान् रोगान् वह्निमुद्दीपयेतथा ॥16 ॥

भावार्थ :- वातसार अत्यन्त गुप्त रखने वाली यौगिक क्रिया है। इसका अभ्यास करने से साधक का शरीर स्वच्छ (मल रहित) हो जाता है। यह शरीर के सभी रोगों को नष्ट करती है और जठराग्नि (पाचन क्रिया) को तीव्र अर्थात् मजबूत करती है।

वारिसार धौति विधि

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्रेण च पिबेच्छनै:। चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदध: ॥17 ॥

भावार्थ :- जल (पानी) को मुहँ द्वारा धीरे-धीरे इतनी मात्रा में पीना चाहिए जिससे कि वह गले तक आ जाये अर्थात् इतना पानी पीना चाहिए कि वह गले तक आ जाये। इसके बाद अपने पेट को चलाते हुए (आगे-पीछे अथवा दायें से बायें) उस पानी को अधोमार्ग (गुदा द्वार) से बाहर निकाल दें।

विशेष :- वारिसार की विधि और वातसार की विधि दोनों ही पूरी तरह से मिलती जुलती ही है। इसको याद रखने के लिए विद्यार्थी को केवल इसके पहले शब्द को समझने की आवश्यकता है। वातसार और वारिसार शब्दों में पीछे के दोनों शब्द (सार) समान हैं। वातसार में वात का अर्थ होता है वायु और वारिसार में वारि शब्द का अर्थ जल अथवा पानी होता है। बाकी की विधि बिलकुल समान है। वातसार में यह क्रिया वायु के द्वारा पूरी होती है और वारिसार में यह क्रिया पानी के द्वारा पूरी की जाती है। बाकी सब समान विधि समान होती है। अतः सभी छात्रों को केवल वात (वायु) और वारि (जल) शब्दों को ही याद रखना है।

वारिसार धौति लाभ

वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम्। साधयेत्तं प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥18 ॥

भावार्थ :- वारिसार क्रिया भी वातसार की तरह ही अत्यन्य गोपनीय यौगिक क्रियाओं में से एक है। इसका अभ्यास करने से साधक का शरीर पूरी तरह से स्वच्छ (विजातीय द्रव्यों से रहित) हो जाता है। पूरे मनोभाव से इसका अभ्यास करने से साधक का शरीर देवताओं के समान दिव्य रूप (अत्यन्य मनमोहक) वाला हो जाता है।

षट्कर्म वर्णन

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥12 ॥

भावार्थ :- योग साधक को धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी (नौलि), त्राटक व कपालभाति नामक इन छ: प्रकार की शुद्धि क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष:- महर्षि घेरण्ड ने षट्कर्मों को योग के पहले अंग के रूप में मान्यता दी है। उनका कहना है कि योग साधक को सबसे पहले षट्कर्मों द्वारा अपने शरीर का शुद्धिकरण करना चाहिए। इसके बाद ही साधक अन्य प्रकार की योग साधना करने के योग्य होता है। षट्कर्मों को मुख्य रूप से प्रचारित करने का श्रेय भी घेरण्ड ऋषि को ही जाता है। इन्होंने छ: षट्कर्मों के भी अलग-अलग प्रकारों का वर्णन करके इसको घेरण्ड संहिता के एक पूरे अध्याय का रूप देकर इनकी उपयोगिता को दर्शाया है।

धौति के प्रकार

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम्। धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ॥13 ॥

भावार्थ :- इस श्लोक में धौति के चार प्रकार बताते हुए कहा है कि अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृदयधौति व मूलशोधन यह धौति के चार प्रकार हैं। साधक को इनका अभ्यास करके अपने शरीर की शुद्धि करनी चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में षट्कर्म के पहले अंग अर्थात् धौति के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है। धौति मुख्य रूप से चार प्रकार की होती है और यदि धौति के इन चार प्रकारों के भी अलग-अलग प्रकारों या भेदों की बात करें तो इनकी कुल संख्या तेरह (13) हो जाती है। परीक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी है। जिसे ऊपर दिये गए डायग्राम द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

अन्तर्धौति के प्रकार

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम्। घटस्य निर्मलार्थाय अन्तधौतिश्चतुर्विधा ॥14 ॥

भावार्थ :- शरीर को शुद्ध करने के लिए साधक को अन्तर्धौति की निम्न चार प्रकार अथवा विधियों (वातसार, वारिसार, वह्निसार (अग्निसार) और बहिष्कृत) का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- धौति के चार प्रकारों में सबसे पहले प्रकार अर्थात् अन्तर्धौति के भी चार भेद बताये गये हैं। इनके क्रम व संख्या को परीक्षा की दृष्टि से बहुत उपयोगी माना जाता है। अतः विद्यार्थी इनको अच्छी प्रकार से याद करें। आगे के श्लोकों में इन सभी की विधि व इनसे मिलने वाले लाभ बताये जायेंगे।

वातसार धौति विधि

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद् वायुं शनै:शनै:। चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनै: ॥15 ॥

भावार्थ :- साधक को अपने मुहँ को कौवे की चोंच की तरह बनाकर उससे धीरे-धीरे से प्राणवायु को पीना चाहिए अर्थात् प्राणवायु को शरीर के अन्दर ग्रहण करना चाहिए। फिर अपने पेट को चलाते हुए (आगे-पीछे या दायें से बायीं ओर घुमाते हुए) उस वायु को पीछे अर्थात् गुदा मार्ग से धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए।

विशेष :- वातसार को याद रखने के लिए विद्यार्थी वातसार शब्द को पहले दो अलग-अलग भागों वात और सार में बाट ले। वात का अर्थ है वायु और सार का अर्थ है उसका निचोड़। अब इसे आसानी से याद किया जा सकता है कि वायु को पीकर उसको निचोड़ देना चाहिए। निचोड़ने का अर्थ होता है उसके उपयोगी तत्त्व को निकाल लेना। जब हम किसी पदार्थ के आवश्यक तत्त्व को निकाल लेते हैं तो उसके बाद उस पदार्थ का क्या करते हैं ? निश्चित रूप से हम उसे अवशिष्ट पदार्थ की तरह फेंक देते हैं। इसे एक उदाहरण से समझते हैं। जैसे एक नींबू के रस को निचोड़ने के बाद जिस प्रकार उसके छिलके को हम फेंक देते हैं। ठीक उसी प्रकार जब

हमने वायु को पेट में चलाकर उसके सार को ग्रहण कर लेते हैं तो उसे भी हम निश्चित रूप से बाहर ही फेंकेते हैं। और जिस वायु का शरीर के भीतर प्रयोग कर लिया गया हो तो उसका निष्कासन तो नीचे अर्थात् गुदा मार्ग से ही किया जाएगा। ऐसे ही हम भोजन को ग्रहण करके उसके रस को पचाकर बाकी बचे हुए अवशिष्ट को गुदा मार्ग द्वारा ही बाहर निकाल देते हैं। इस उदाहरण द्वारा आप इसकी विधि को आसानी से याद रख सकते हैं।

वातसार धौति लाभ

वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम्। नाशयेत्सकलान् रोगान् वह्निमुद्दीपयेतथा ॥16॥

भावार्थ :- वातसार अत्यन्त गुप्त रखने वाली यौगिक क्रिया है। इसका अभ्यास करने से साधक का शरीर स्वच्छ (मल रहित) हो जाता है। यह शरीर के सभी रोगों को नष्ट करती है और जठराग्नि (पाचन क्रिया) को तीव्र अर्थात् मजबूत करती है।

वारिसार धौति विधि

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्रेण च पिबेच्छनैः। चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ॥17॥

भावार्थ :- जल (पानी) को मुहँ द्वारा धीरे-धीरे इतनी मात्रा में पीना चाहिए जिससे कि वह गले तक आ जाये अर्थात् इतना पानी पीना चाहिए कि वह गले तक आ जाये। इसके बाद अपने पेट को चलाते हुए (आगे-पीछे अथवा दायें से बायें) उस पानी को अधोमार्ग (गुदा द्वार) से बाहर निकाल दें।

विशेष :- वारिसार की विधि और वातसार की विधि दोनों ही पूरी तरह से मिलती जुलती ही है। इसको याद रखने के लिए विद्यार्थी को केवल इसके पहले शब्द को समझने की आवश्यकता है। वातसार और वारिसार शब्दों में पीछे के दोनों शब्द (सार) समान हैं। वातसार में वात का अर्थ होता है वायु और वारिसार में वारि शब्द का अर्थ जल अथवा पानी होता है। बाकी की विधि बिलकुल समान है। वातसार में यह क्रिया वायु के द्वारा पूरी होती है और वारिसार में यह क्रिया पानी के द्वारा पूरी की जाती है। बाकी सब समान विधि समान होती है। अतः सभी छात्रों को केवल वात (वायु) और वारि (जल) शब्दों को ही याद रखना है।

वारिसार धौति लाभ

वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम्। साधयेत्तं प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥18॥

भावार्थ :- वारिसार क्रिया भी वातसार की तरह ही अत्यन्य गोपनीय यौगिक क्रियाओं में से एक है। इसका अभ्यास करने से साधक का शरीर पूरी तरह से स्वच्छ (विजातीय द्रव्यों से रहित) हो जाता है। पूरे मनोभाव से इसका अभ्यास करने से साधक का शरीर देवताओं के समान दिव्य रूप (अत्यन्य मनमोहक) वाला हो जाता है।

वह्निसार / अग्निसार धौति विधि

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारञ्च कारयेत्। अग्निसार इयं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥19॥

भावार्थ :- वह्निसार अपनी नाभि (पेट के बीच में स्थित खड्डानुमा स्थान) को मेरुदण्ड (कमर) के साथ सौ बार लगाने (पेट को सौ बार आगे-पीछे करना) को अग्निसार (वह्निसार) धौति क्रिया कहते हैं। यह क्रिया योगियों को साधना में सिद्धि प्रदान करवाती है।

विशेष :- इस धौति क्रिया में दो नामों का प्रयोग किया गया है। एक वह्निसार और दूसरा अग्निसार। इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है। वह्नि और अग्नि दोनों शब्दों का प्रयोग जठराग्नि के लिए किया जाता है। इस क्रिया का प्रचलित नाम अग्निसार है। जिसका प्रयोग ज्यादा किया जाता है। वह्नि शब्द का अर्थ भी अग्नि ही होता है। अतः वह्निसार और अग्निसार एक ही क्रिया है। इसकी विधि को हम थोड़ा सा प्रयोगात्मक स्तर पर समझने का प्रयास करते हैं। जिससे इससे सम्बंधित भ्रान्ति का निवारण किया जा सके। अपनी नाभि को कम से कम सौ बार अपनी कमर के साथ लगाना अग्निसार होती है। इसके लिए जो पूरी विधि है उसके लिए साधक पहले अपने श्वास को बाहर छोड़कर बाहर ही रोक दे। इसके बाद अपने पेट को आगे व पीछे की ओर चलाना (धकेलना) चाहिए। प्रारम्भ में कोई भी साधक सौ बार इसका अभ्यास एक ही श्वास में करने में समर्थ नहीं होता। इसलिए जब तक सौ बार यह क्रिया नहीं हो जाती तब तक इसका अभ्यास करते रहना चाहिए। ऐसा कुछ समय करने के बाद अर्थात् अभ्यास मजबूत होने पर साधक एक श्वास में ही इसे सौ बार आगे-पीछे करने में समर्थ हो जाता है।

वह्निसार / अग्निसार धौति लाभ

उदरामयजं त्यक्तवा जठराग्निं विवर्द्धयेत्। एषा धौति परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा। केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ॥20

भावार्थ :- अग्निसार धौति का अभ्यास करने से साधक के उदर (पेट) से सम्बंधित सभी रोग दूर हो जाते हैं और जठराग्नि तीव्र हो जाती है। यह क्रिया देवताओं के लिए भी दुर्लभ (कठिनता से प्राप्त होने वाली) है साथ ही यह क्रिया अत्यन्त गुप्त रखने योग्य है। केवल इसी क्रिया का अभ्यास करने से साधक का शरीर निश्चित रूप से देवताओं के समान दिव्य तेज रूप वाला हो जाता है।

बहिष्कृत धौति विधि

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरये दुदरम्महत् ॥21

धारयेदर्धयामन्तु चालये द धोवर्त्मना। एषा धौति: परागोप्या न प्रकाश्या कदाचन ॥22

भावार्थ :- काकीमुद्रा (कौवे के समान मुख करके) को साधकर (उसमें पारंगत होकर) अपने उदर (पेट) में वायु को मुख के द्वारा अन्दर भरना चाहिए। अब उस वायु को आधे प्रहर अर्थात् डेढ़ घण्टे तक पेट के अन्दर ही रोककर रखे और इसके बाद उस रोकी हुई वायु को गुदा मार्ग से बाहर निकाल देना चाहिए। इस धौति क्रिया के भी अति गोपनीय होने के कारण इसको कभी भी सार्वजनिक नहीं करना चाहिए।

विशेष :- इस बहिष्कृत धौति क्रिया की विधि भी बिलकुल वातसार धौति क्रिया की तरह ही होती है। इसमें व वातसार की विधि में केवल कुम्भक (वायु को रोकने) का ही अन्तर है। इसके अलावा यह दोनों ही विधियाँ समान है। इसको याद रखने के लिए विद्यार्थी को बहिष्कृत शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। बहिष्कृत का अर्थ होता है बाहर निकाल देना अथवा बाहर फेंक देना। जब हम किसी वस्तु का प्रयोग कर लेते हैं तो उसके बचे हुए अवशेष या अवशिष्ट को बाहर कूड़े में फेंक देते हैं। ठीक उसी प्रकार जब हम वायु को पीकर उसको शरीर में रोककर उसका उपयोग कर लेते हैं तो उसके बाद वह अवशिष्ट रूप में ही बचता है और पेट में बचे हुए अवशिष्ट को हम गुदा मार्ग से ही बाहर निकालते हैं। इसलिए विद्यार्थी इस प्रकार इसे आसानी से याद रख सकते हैं।

इस क्रिया में वायु को डेढ़ घंटे तक शरीर के अन्दर रोकने की जो बात कही गई है उसका अर्थ यह नहीं है कि हम वायु को पेट के अन्दर डेढ़ घण्टे तक रोकने के बाद अपनी श्वास-प्रश्वास की क्रिया को रोक देते हैं। ऐसा करना सम्भव हो सकता है लेकिन उसके लिए साधक को बहुत वर्षों की साधना द्वारा अपने प्राण को साधना पड़ेगा। जो कि यहाँ षट्कर्म के उपदेश में न्याय संगत नहीं लगता। अगर ऐसा होता तो इस धौति का अभ्यास घेरण्ड ऋषि प्राणायाम के बाद में करने का उपदेश करते। जबकि उन्होंने इसे साधना के प्रारम्भ में ही करने की बात कही है। मेरा ऐसा मानना है कि यहाँ पर वायु को डेढ़ घंटे तक शरीर के अन्दर ही धारण करने की बात से अभिप्राय यह है कि जिस वायु को साधक काकीमुद्रा द्वारा ग्रहण करता है उस वायु को वह अपने पेट में ही स्थिर करके उसकी धीरे-धीरे चलाता रहता है और इस दौरान अपनी श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को भी जारी रखता है। वह केवल उसी वायु को अन्दर रोककर रखता है जिसे काकीमुद्रा द्वारा अन्दर भरा गया था। इसके अलावा जो श्वसन क्रिया नासिका द्वारा होती है वह निर्बाध गति से चलती रहती है। उसका इस वायु (काकीमुद्रा वाली) से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

प्रक्षालन विधि

नाभिमग्ने जले स्थित्वा नाडीशक्तिं विसर्जयेत्। कराभ्यां क्षा लयेन्नाडीं यावन्मलविसर्जनम् ॥23

भावार्थ :- नाभि तक के गहरे पानी में उत्कटासन में बैठकर अपनी शक्तिनाड़ी (मलद्वार) को बाहर की ओर निकालकर दोनों हाथों से उसको अच्छी तरह से तब तक साफ करना चाहिए जब तक कि उसके अन्दर का सारा मल (अवशिष्ट पदार्थ) पूरी तरह से साफ न हो जाये।

विशेष :- इस प्रक्षालन विधि को बहिष्कृत धौति के दूसरे प्रकार के रूप में माना जाता है साथ ही इसकी विधि बस्ति क्रिया से मिलती जुलती है। इस विधि का यहाँ पर वर्णन करने का उद्देश्य यही हो सकता है कि जब बहिष्कृत धौति से अन्दर रुकी हुई वायु को डेढ़ घंटे के बाद जब बाहर निकाला जाता है तो उससे अवश्य मलद्वार के पास कुछ मल जमा हो जाता होगा। जिसको साफ करने के लिए यहाँ पर इस क्रिया का करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रक्षालन की विधि की गणना धौति के अंग के रूप में नहीं की जाती।

प्रक्षालन क्रिया लाभ

तावत्प्रक्षाल्य नाडीञ्च उदरे वेशयेत्पुनः। इदम्प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्। केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ॥24

भावार्थ :- उसके बाद शक्तिनाड़ी (मलद्वार) को साफ करके पुनः शरीर के अन्दर स्थित कर देना चाहिए। यह क्रिया अति गोपनीय होने के कारण इसे देवताओं के लिए भी यह कठिनाई से प्राप्त होने वाली माना जाता है। केवल इसी धौति क्रिया से साधक का शरीर दिव्य शरीर से युक्त हो जाता है।

यामार्द्धं धारणे शक्तिं यावन्न धारयेन्नरः। बहिष्कृत महद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ॥25

भावार्थ :- जब तक मनुष्य आधे प्रहर (डेढ़ घंटे) तक वायु को पेट के अन्दर धारण करने के योग्य नहीं हो जाता तब तक वह बहिष्कृत नामक महाधौति को करने में समर्थ नहीं हो सकता अथवा तब तक उसे इस धौति से कोई लाभ नहीं मिलता। अतः पहले साधक को पेट के अन्दर वायु को डेढ़ घंटे तक स्थिर रखने की योग्यता विकसित करनी चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में बहिष्कृत धौति को महाधौति कहकर सम्बोधित किया गया है। परीक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। परीक्षा में यह पूछा जा सकता है कि किस धौति की महाधौति कहा गया है ? जिसका उत्तर है बहिष्कृत धौति। अतः विद्यार्थी इसे याद करलें।

दन्तधौति के प्रकार

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रञ्च कर्णयुग्मयोः। कपालरन्ध्रम्पञ्चैतैः दन्तधौतिः विधीयते ॥26

भावार्थ :- दाँतों के मूल भाग अर्थात् उनकी जड़ों को साफ करना, जिह्वा के मूलभाग की सफाई करना, दोनों कानों के छिद्रों को साफ करना और सिर के अग्र (ऊपरी) भाग की शुद्धि करना यह दन्तधौति के पाँच प्रकार बताये गये हैं। जिनको क्रमशः दन्तमूल धौति, जिह्वामूल धौति, कर्णरन्ध्र धौति व कपालरंध्र धौति कहा जाता है।

विशेष :- दन्तधौति के विषय में प्रायः बहुत सारे विद्यार्थियों में एक भ्रम की स्थिति बन जाती है कि दन्तधौति के कितने प्रकार होते हैं ? इसका उत्तर ऋषि घेरण्ड द्वारा इसके श्लोक में ही दिया गया है। जहाँ पर उन्होंने **'पञ्चैते'** शब्द का प्रयोग किया है। 'पञ्चैते' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ होता है पाँच। अतः यहाँ पर श्लोक में ही उन्होंने इसको स्पष्ट कर दिया है कि दन्तधौति के पाँच प्रकार होते हैं। लेकिन जैसे ही हम इनकी गणना करते हैं तो इनकी संख्या चार (4) मिलती है। असली भ्रम यहाँ से शुरू होता है। जिसका निवारण दन्तधौति के तीसरे स्थान पर दी गई धौति (कर्णरन्ध्र धौति) के ऊपर ध्यान देने मात्र से ही हो जाता है। कर्णरन्ध्र धौति में हमारे दोनों कानों को शामिल किया जाता है। जिससे इनकी संख्या पाँच होती है। वैसे यदि कर्णरन्ध्र धौति को एक मानते हैं तो यह चार ही दिखती हैं। लेकिन कर्णरन्ध्र में दोनों कानों की शुद्धि को शामिल किया गया है। जिससे दन्तधौति संख्या में कुल पाँच प्रकार की होती है। इसी प्रकार विद्यार्थी धौति के जब सभी प्रकारों की संख्या को गिनता है तो वह भी इसी गलती के कारण धौति के प्रकारों की कुल संख्या बारह (12) बताता है। जबकि वह कर्णरन्ध्र धौति के दूसरे अंग को भी इसमें शामिल करे तो धौति के प्रकारों की वास्तविक संख्या तेरह (13) होती है।

दन्तमूल धौति

खादिरेण रसेनाथ मृत्तिकया च शुद्धया। मार्जयेद्दन्तमूलञ्च यावत्किल्बिषमाहरेत् ॥27

भावार्थ :- खदिर (खैर) के वृक्ष से निकलने वाले रस व सूखी मिट्टी दोनों को आपस में मिलाकर उनके लेप को दाँतों के मूल भाग पर तब तक रगड़ते रहें जब तक कि दाँतों में लगी हुई गन्दगी (मल) पूरी तरह से दूर न हो जाए।

विशेष :- यहाँ पर जिस सूखी मिट्टी की बात कही गई है। वह पूरी तरह से शुद्ध होनी चाहिए। इसके लिए चिकनी पीली मिट्टी का उपयोग करना सबसे उत्तम माना जाता है क्योंकि चिकनी पीली मिट्टी में किसी प्रकार का कोई दोष (कीटाणु) नहीं होता। हमें इसके लिए हमेशा एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस मिट्टी का प्रयोग किया जाए। वह मिट्टी सभी प्रकार की कीटनाशक दवाइयों के प्रभाव से मुक्त होनी चाहिए।

दन्तमूल धौति लाभ

दन्तमूलं परा धौतिर्योगीनां योगसाधने। नित्यं कुर्यात् प्रभाते च दन्तरक्षां च योगवित्। दन्तमूलं धारणादिकार्येषु योगिनां मतम् ॥28

भावार्थ :- योगी द्वारा की जाने वाली सभी योग साधनाओं में (धौतियों में) दन्तमूल धौति को श्रेष्ठ माना गया है। अपने दाँतों की रक्षा के लिए साधक को प्रतिदिन

प्रातःकाल (सुबह-सुबह) दन्तमूल धौति का अभ्यास करना चाहिए। दन्तमूल धौति को योगियों द्वारा धारणीय कार्यों (जिनको कार्यों को प्रतिदिन करना चाहिए) में करने योग्य माना गया है।

जिह्वामूल धौति लाभ

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधनकारणम्। जरामरणरोगादीन् नाशयेद्दीर्घलम्बिका ॥29॥

भावार्थ :- इसके बाद मैं जिह्वा (जीभ) को लम्बी करने वाली, बुढ़ापा, मृत्यु, सभी रोगों को नष्ट करने वाली व जिह्वा को शुद्ध करने वाले कारण अर्थात् विधि का वर्णन करूँगा।

विशेष :- इस श्लोक में ऋषि घेरण्ड ने जिह्वामूल धौति की विधि से पहले ही उससे होने वाले लाभों का वर्णन किया है।

जिह्वामूल धौति विधि

तर्जनीमध्यमान्तानां अङ्गुलित्रययोगत:। वेशयेद् गलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिका जडम्। शनै: शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ॥30

भावार्थ :- तर्जनी (पहली अँगुली), मध्यमा (दूसरी, सबसे बड़ी या बीच वाली अँगुली) और अनामिका (तीसरी अँगुली या रिंग फिंगर) अँगुलियों को एकसाथ मिलाकर गले के बीच में स्थित जिह्वा के मूलभाग को धीरे-धीरे से रगड़ते हुए जीभ पर लगे मल (गन्दगी) को साफ करना चाहिए। इस प्रकार जीभ को शुद्ध करने से कफ विकार भी समाप्त होते हैं।

विशेष :- जिह्वामूल धौति के लिए पहली तीन अँगुलियों से जीभ को रगड़कर साफ करने की बात कही गई है। हमारे हाथ की पहली अँगुली को तर्जनी, दूसरी को मध्यमा, तीसरी को अनामिका, चौथी को कनिष्का व अँगूठे को अँगुष्ठ कहा जाता है। यह सभी इनके संस्कृत नाम हैं।

मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः। तदग्रं लौहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनै: शनै: ॥31

भावार्थ :- इसके उपरान्त जीभ के ऊपर मक्खन को रगड़कर बार-बार उसका दोहन (उसे लम्बा) करना चाहिए। फिर लोहे की चिमटी द्वारा जीभ के अग्र भाग (अगले हिस्से) को पकड़कर उसे धीरे-धीरे खीचना चाहिए।

नित्यं कुर्यात् प्रयत्नेन रवेरुदयकेऽस्तके। एवं कृते च नित्यं सा लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ॥32

भावार्थ :- साधक द्वारा प्रतिदिन सूर्योदय (सूर्य के निकलते समय) व सूर्यास्त (सूर्य के छिपते समय) के समय पर पूरे प्रयत्न (मनोभाव) के साथ इसका अभ्यास करने से जीभ की लम्बाई बढ़ जाती है।

कर्ण धौति विधि व लाभ

तर्जन्यनामिकायोगान्मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयो:। नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥33

भावार्थ :- तर्जनी (पहली अँगुली) व अनामिका (तीसरी, रिंग फिंगर) दोनों अँगुलियों को मिलाकर इनके अग्रभाग से दोनों कानों की सफाई करना कर्णरन्ध्र धौति कहलाती है। प्रतिदिन कर्णरन्ध्र धौति का अभ्यास करने से साधक के अन्दर आन्तरिक नाद प्रकट (सुनाई देने) होने लगता है।

कपालरन्ध्र धौति विधि व लाभ

बद्धाङ्गुष्ठेन दक्षणे मार्जयेद् भालरन्ध्रकम्। निद्रान्ते भोजनान्ते न दिवान्ते च दिने दिने ॥34

भावार्थ :- दायें हाथ के अँगूठे से सिर के ऊपरी भाग का (जहाँ पर छोटे बच्चों के सिर में एक अत्यन्य नाजुक स्थान होता है जो निरन्तर धड़कता रहता है) प्रतिदिन प्रातःकाल, भोजन करने के बाद व दिन के अन्त में अर्थात् सायंकाल मार्जन (हल्की मालिश द्वारा उसे शुद्ध करना) करना कपालरंध्र धौति कहलाता है।

विशेष :- कपालरंध्र धौति का अभ्यास साधक को दिन में तीन बार करना चाहिए। जिसका क्रम इस प्रकार है :- प्रातःकाल, दोपहर के भोजन के बाद व सांयकाल में। परीक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी है। परीक्षा में इस प्रकार की बात पूछी जा सकती है कि कपालरंध्र धौति का अभ्यास दिन में कितनी बार करना चाहिए ? इसका उत्तर है तीन बार। इसके साथ ही यह भी पूछा जा सकता है कि किस अंग से कपाल की शुद्धि करनी चाहिए ? व सिर के किस हिस्से की शुद्धि करनी चाहिए? जिनके उत्तर क्रमशः दायें हाथ का अँगूठा व सिर का ऊपरी भाग हैं। अतः इसे सभी विद्यार्थी नोट करलें।

कपालरंध्र धौति लाभ

नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टि: प्रजायते। एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥35

भावार्थ :- कपालरंध्र धौति का नियमित रूप से अभ्यास करने से साधक की सभी नाड़ियाँ निर्मल (शुद्ध) हो जाती हैं। दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है और सभी कफदोषों की समाप्ति हो जाती है।

हृदय धौति के प्रकार

हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद्दण्डवमनवाससा ॥36

भावार्थ :- हृदय धौति को तीन प्रकार से किया जाता है :- 1. दण्ड (दण्डधौति), 2. वमन (वमन धौति), 3. वास (वस्त्र धौति)।

दण्ड धौति विधि

रम्भादण्डं हरिद्दण्डं वेत्रदण्डं तथैव च। हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनै: ॥37॥

भावार्थ :- केले के पत्तों के बीच के कोमल (पाइपनुमा) भाग से, हल्दी के पत्तों के बीच के कोमल (पाइपनुमा) भाग से या फिर वेंत के पत्तों के बीच के कोमल (पाइपनुमा) भाग को हृदय प्रदेश के बीच तक (छाती के दोनों हिस्सो के बीचों बीच) ले जाकर पुनः उसे धीरे से बाहर निकालना दण्डधौति कहलाता है।

विशेष :- दण्डधौति में बताई गई विधि को अच्छी प्रकार से समझने के लिए विद्यार्थी चित्र की सहायता ले सकते हैं। आजकल दण्डधौति के स्थान पर रबड़ की पाइप का प्रयोग किया जाता है। जिसे स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा नहीं माना जाता।

दण्ड धौति लाभ

कफपित्तं तथा क्लेदं रेचये दूर्ध्ववर्त्मना। दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद् ध्रुवम् ॥38॥

भावार्थ :- दण्डधौति के अभ्यास से साधक के अन्दर कफ, पित्त व क्लेद (दूषित चिपचिपा पदार्थ) आदि की बढ़ी हुई मात्रा को शरीर के ऊपरी मार्ग (मुहँ द्वारा) बाहर निकाल दिया जाता है। जिससे साधक के हृदय से सम्बंधित सभी रोग निश्चित रूप से समाप्त हो जाते हैं।

विशेष :- दण्डधौति से साधक के शरीर में कफ, पित्त व क्लेद (दूषित चिपचिपा पदार्थ) की अधिकता समाप्त हो जाती है। जिससे शरीर में इन सभी से सम्बंधित होने वाले रोगों की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है।

वमन धौति विधि व लाभ

भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठ पूरितं सुधी:। उर्ध्वां द्रुष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत् पुनः ॥39॥

नित्यामभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत् ॥40॥

भावार्थ :- बुद्धिमान साधक द्वारा भोजन करने के बाद (भोजन करने के लगभग चार घण्टे बाद) पानी को इतनी मात्रा में पीना चाहिए कि पानी गले तक भर जाए। इसके बाद कुछ पल तक साधक द्वारा ऊपर की ओर देखते हुए पुनः उस सारे पानी को बाहर निकाल देना चाहिए। यह वमन धौति कहलाती है। इस प्रकार वमन धौति का नियमित रूप से अभ्यास करने से साधक के कफ व पित्त से सम्बंधित सभी विकार (रोग) समाप्त हो जाते हैं।

विशेष :- इस श्लोक में वमन धौति की विधि में लिखा है कि साधक को भोजन के बाद पानी पीकर उसे निकाल देना चाहिए। इसके विषय में सभी योग आचार्यों के अलग-अलग मत हैं। एक मत के अनुसार तो साधक को भोजन करने के तुरन्त बाद पानी पीकर इस क्रिया को करना चाहिए। यह क्रिया इसलिए न्यायसंगत नहीं लगती है क्योंकि ऐसा करने से तो सारा भोजन बाहर निकल जाएगा। साथ ही इस विधि का अभ्यास नियमित रूप से करने की बात कही गई है। जिससे इस विधि पर घोर शंका होती है। प्रतिदिन यदि ऐसा किया जाएगा तो शरीर अत्यंय कमजोर पड़ जाएगा। जब तक शरीर को पोषण के रूप में आहार प्राप्त नहीं होगा तो निश्चित रूप से उसका (शरीर) नाश हो जाएगा। इसलिए यहाँ पर ऋषि घेरण्ड इस प्रकार का कथन नहीं कह रहे हैं। इससे सम्बंधित एक अन्य क्रिया भी की जाती है जिसे आधुनिक योग आचार्यों ने व्याघ्र क्रिया का नाम दिया है। व्याघ्र क्रिया के प्रयोग के पीछे एक विशेष प्रयोजन होता है। कई बार हम गलती से गरिष्ठ, दूषित या ज्यादा मात्रा में भोजन ग्रहण कर लेते हैं। जिससे शरीर में नुकसान होने का खतरा बढ़ जाता है। उस खतरे से बचने के लिए व्याघ्र क्रिया का अभ्यास किया जाता है। इसे व्याघ्र क्रिया का नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि शेर भी इसी प्रकार करता है। जब कई बार शेर अत्यधिक मात्रा में किसी प्राणी के मांस का सेवन कर लेता है तो वह उसको उल्टी करके बाहर निकाल देता है। ठीक उसी तर्ज पर इसे व्याघ्र क्रिया का नाम दिया गया है।

अब इसके बाद कुछ योग आचार्यों का मानना है कि भोजन के बाद का अर्थ है भोजन करने के कम से कम चार घण्टे बाद इस क्रिया को करना चाहिए। ऐसा इसलिए कहा गया है कि भोजन को पचने में कम से कम तीन से चार घण्टे का समय लगता है। इसके बाद (3-4 घण्टे) बाद भी भोजन का जो अंश (भाग) नहीं पचा है। वह शरीर के अन्दर अपच को बढ़ाकर शरीर में अनेक प्रकार के विष उत्पन्न करता है। इसलिए उस बिना पचे हुए भोजन के अंश को वमन धौति के द्वारा बाहर निकाला जाता है। यह विधि पूरी तरह से तर्कपूर्ण व न्यायसंगत लगती है। इसलिए सभी साधक अपने विवेक से भी इसका विश्लेषण करें।

वासधौति / वस्त्र धौति विधि

चतुरङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत्। पुनः प्रत्याहरेदेतत्प्रोच्यते धौतिकर्मकम् ॥41॥

भावार्थ :- चार अँगुल चौड़ा बारीक कपड़ा लेकर उसे धीरे-धीरे गले से नीचे निगलते हुए अन्दर ले जाएं। उसके बाद पुनः उस कपड़े को धीरे-धीरे ही बाहर निकालें। इस क्रिया को वस्त्र धौति कहते हैं।

विशेष :- इसके लिए एक हल्के बारीक सूती वस्त्र का प्रयोग किया जाता है। जिसकी चौड़ाई **चार अँगुलियों** के बराबर (लगभग तीन इंच) होती है और लम्बाई लगभग **बाईस फीट** होती है (हठ प्रदीपिका के अनुसार)। इसके लिए सर्वप्रथम साधक कागासन में बैठें और उसके बाद उस कपड़े की गोल पट्टी बनाकर उसे गुनगुने पानी में भिगो ले। फिर धीरे-धीरे उसे मुँह द्वारा अन्दर निगलना होता है। इसमें साधक को सावधानी रखनी चाहिए कि सूती वस्त्र को दाँतों से बचा कर रखे। वस्त्र धौति को ज्यादा समय तक पेट के अन्दर नहीं रखना चाहिए। पाँच मिनट के अन्दर ही उसे बाहर निकालना शुरू कर देना चाहिए अन्यथा शरीर के अन्दर धौति के पचने की क्रिया शुरू हो सकती है। जिससे बहुत हानि हो सकती है। अतः साधक इसका अभ्यास सदा योग्य गुरु की देखरेख में ही करे।

वासधौति / वस्त्र धौति लाभ

गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति। आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥42॥

भावार्थ :- वस्त्र धौति के अभ्यास से शरीर के सभी वायु विकार (गैस्टिक), ज्वर (बुखार), प्लीहा (स्प्लीन), चर्म व कुष्ठ रोग (त्वचा रोग) व कफ और पित्त के असन्तुलन से होने वाले सभी रोगों का नाश हो जाता है। जिससे शरीर में आरोग्यता, मजबूती और शक्ति (ताकत) का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता रहता है।

मूलशोधन धौति

अपानक्रूरता तावद्या वन्मूलं न शोधयेत्। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ॥43॥

भावार्थ :- जब तक शरीर के मूल भाग की शुद्धि नहीं होती तब तक शरीर में अपान वायु (अपान नामक प्राण जो गुदा प्रदेश में स्थित होता है) का प्रकोप (असन्तुलन) बना रहता है। अपान वायु के प्रकोप से बचने के लिए हमें इसके लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करके मूलशोधन क्रिया का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- मूलशोधन धौति के अन्य भाग नहीं हैं। इसका यही एक ही प्रकार है। मूलशोधन में गुदा प्रदेश की शुद्धि की जाती है। इसके सम्बन्ध में परीक्षा में पूछा जा सकता है कि मूलशोधन धौति के कितने प्रकार हैं ? जिसका उत्तर है एक होगा और दूसरा मूलशोधन में शरीर के किस भाग की शुद्धि की जाती है ? जिसका उत्तर होगा गुदा प्रदेश।

पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा। यत्नेन क्षालयेद् गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ॥44॥

भावार्थ :- हल्दी की जड़ से या मध्य अर्थात् बीच वाली अँगुली (सबसे बड़ी) के द्वारा जल के सहयोग से प्रयत्न पूर्वक गुदा मार्ग को बार-बार धोये अर्थात् उसकी सफाई करें। यह क्रिया मूलशोधन कहलाती है।

विशेष :- मूलशोधन धौति को करने के लिए हल्दी की जड़ का ही प्रयोग करने की बात क्यों कही गई है ? इसके पीछे हमें ऋषि के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता चलता

है। हल्दी को सबसे बड़े कीटाणु नाशक (एंटीबायोटिक) के रूप में जाना जाता है। यह प्रकृति के द्वारा दी गई सबसे प्रभावी कीटाणु नाशक औषधि है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आपने देखा होगा कि यदि किसी व्यक्ति को किसी भी प्रकार की चोट लगती है तो ग्रामीण लोग झट से उस चोट पर हल्दी का पाउडर लगाते हैं। साथ ही जिस व्यक्ति को चोट लगी है उसे गर्म दूध में हल्दी पाउडर डालकर पिलाते हैं। ताकि हल्दी अन्दर और बाहर दोनों ओर से अपना काम करे। इस प्रकार के ईलाज का आज तक कोई विकल्प नहीं मिला है। यह सबसे तेज असर करने वाला प्रभावी तरीका है। भारत देश में गाँव का प्रत्येक व्यक्ति इस अचूक नुस्खे को बखूबी जानता और अपनाता है। इस अचूक उपाय के ऊपर हाल ही के दिनों में बहुत ज्यादा रिसर्च हुई हैं। जिससे यह नुस्खा आज पूरे यूरोप व अमेरिका में भी बड़े पैमाने पर प्रयोग में लाया जा रहा है। उन्होंने भी हल्दी के चमत्कारिक गुणों को पहचान कर इसका प्रयोग शुरू कर दिया है। इसलिए घेरण्ड ऋषि ने भी मूलशोधन क्रिया में हल्दी की जड़ का प्रयोग करने की बात कही है। ऐसा करने से गुदा में किसी भी प्रकार के संक्रमण होने का खतरा समाप्त हो जाता है।

मूलशोधन लाभ

वारयेत्कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्। कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च वह्निमण्डल दीपनम्॥45॥

भावार्थ :- मूलशोधन क्रिया के अभ्यास से पेट का कड़ापन व अपच (भोजन का न पचना) दूर होता है। चेहरे पर चमक आती है और शरीर बलिष्ठ (मजबूत) बनता है। इसके अलावा मूलशोधन धौति से साधक की जठराग्नि अत्यंय तीव्र हो जाती है। जिससे पाचन तंत्र से जुड़ी सभी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

विशेष :- मूलशोधन धौति के साथ ही धौति क्रिया के सभी तेरह (13) अंगों की व्याख्या पूर्ण हुई।

बस्ति क्रिया के प्रकार

बस्ति क्रिया को षट्कर्म का दूसरा अंग माना है। इस क्रिया में हम अपने गुदा प्रदेश द्वारा अपनी बड़ी आँत की शुद्धि करते हैं। बस्ति से ठीक पहले धौति क्रिया के अन्तिम अंग के रूप में मूलशोधन क्रिया के द्वारा भी हम अपनी गुदा की सफाई करते हैं। मूलशोधन से केवल गुदा प्रदेश की ही सफाई हो पाती है बड़ी आँत की नहीं। अत: इसी बात को ध्यान में रखते हुए महर्षि घेरन्ड अगले ही सूत्र में बस्ति क्रिया का उपदेश करते हैं। जिससे साधक गुदा प्रदेश के साथ-साथ अपनी बड़ी आँत की भी सफाई कर सकें।

घेरन्ड संहिता में बस्ति क्रिया के दो प्रकार बताएं हैं। जो इस प्रकार हैं

जलबस्ति: शुष्कबस्तिर्बस्ति: स्याद् द्विविधा स्मृता। जलबस्तिं जले कुर्याच्छुकबस्तिं सदा क्षितौ॥46॥

अर्थ :- यह बस्ति क्रिया दो प्रकार की होती है। एक जल बस्ति और दूसरी शुष्क बस्ति। जल बस्ति का अभ्यास जल में तथा शुष्क बस्ति का अभ्यास भूमि अर्थात् जमीन पर बैठकर किया जाता है।

विशेष :- बस्ति के दो प्रकार माने गए हैं। एक जलबस्ति और दूसरा स्थलबस्ति।

जलबस्ति विधि

नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम्। आकुञ्चनं प्रसारञ्च जलंबस्तिं समाचरेत्॥47॥

भावार्थ :- उत्कटासन लगाकर जल में नाभि प्रदेश तक बैठ जाएं। उसके बाद गुदा द्वार का आकुञ्चन (गुदा को अन्दर की ओर खीचना) व प्रसारण (गुदा को बाहर की तरफ फैलाना) करते हुए जलबस्ति क्रिया का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- जलबस्ति क्रिया में साधक को अश्वनी मुद्रा (गुदा का आकुञ्चन व प्रसारण) का अभ्यास करना चाहिए। परीक्षा की दृष्टि से इसमें मुख्य रूप से पूछा जा सकता है कि जलबस्ति क्रिया को करते हुए किस आसन का प्रयोग किया जाता है ? जिसका उत्तर है उत्कटासन। साथ ही यह भी पूछा जा सकता है कि किस मुद्रा का प्रयोग करने से जलबस्ति करने में शीघ्र ही सफलता प्राप्त होती है ? जिसका उत्तर है अश्वनी मुद्रा। इसके लिए साधक को पानी के ऐसे टब में बैठना चाहिए जिसमें पानी उसकी नाभि तक आसानी से पहुँच सके। इससे कम या ज्यादा पानी नहीं होना चाहिए। साथ ही पानी स्वच्छ व अनुकूल तापमान वाला होना चाहिए। न अधिक ठण्डा और न अधिक गर्म।

जलबस्ति के लाभ

प्रमेहञ्च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत्। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत्॥48॥

भावार्थ :- जल बस्ति क्रिया से प्रमेह (शरीर से आवश्यक धातुओं का मूत्र मार्ग से निकलना) उदावर्त अर्थात् वायु की अधिकता से शरीर में होने वाला भारीपन , वायु की क्रूरता अर्थात् तीव्रता से होने वाले रोग (सर दर्द, गैस, डकार व शरीर में भारीपन आदि) समाप्त होते हैं। इसके साथ ही साधक का शरीर स्वच्छ (रोग रहित) व कामदेव के समान सुन्दर व आकर्षित हो जाता है।

स्थलबस्ति विधि

बस्ति: पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरध:। अश्विनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत्॥49॥

भावार्थ :- भूमि पर पश्चिमोत्तानासन में बैठकर अश्वनी मुद्रा द्वारा गुदा प्रदेश को धीरे-धीरे चलाते हुए उसका आकुञ्चन (गुदा को सिकोड़ना) व प्रसारण (गुदा प्रदेश को बाहर की ओर फैलाना) करने की क्रिया को स्थलबस्ति कहते हैं।

विशेष :- स्थलबस्ति का अभ्यास पश्चिमोत्तान आसन में बैठकर किया जाता है। इसके साथ ही इसमें अश्वनी मुद्रा का अभ्यास भी किया जाता है।

स्थलबस्ति के लाभ

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते। विवर्द्धयेज्जठराग्निमामवातं विनाशयेत्॥50॥

भावार्थ :- इस प्रकार स्थल बस्ति का अभ्यास करने से साधक के कोष्ठबद्धता (कब्ज) आदि पेट सम्बन्धी रोग समाप्त हो जाते हैं। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। जिसके कारण शरीर में आमवात (खाना खाने के बाद शौच का दबाव बनना) रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

नेति क्रिया

यह षट्कर्म का तीसरा अंग है। नेति क्रिया द्वारा हमारे शीर्ष प्रदेश (शरीर का ऊपरी भाग) की शुद्धि होती है। जिसमें हमारी आँखों, नाक, कान व गले की शुद्धि होती

है। यहाँ पर भी हठ प्रदीपिका की तरह ही नेति के एक ही प्रकार का वर्णन किया गया है।

वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्। मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मकम् ॥51॥

भावार्थ : एक बिता लम्बा अर्थात् लगभग आधा हाथ लम्बा (लगभग 12 अँगुल लम्बा) पतले सूती धागों के समूह (कई सारे सूती धागे) लेकर उसे नासिका के एक भाग से अन्दर डालकर उसे मुहँ द्वारा बाहर निकाल देने को की प्रक्रिया को नेति क्रिया कहा जाता है।

विशेष :- जब भी हम नेति के विषय में किसी से बात करते हैं तो सामान्य रूप से नेति के तीन या चार प्रकार सुनने को मिलते हैं। जिनमें जलनेति, सूत्रनेति, रबड़नेति, घृतनेति आदि – आदि। जबकि हठयोग के किसी भी ग्रन्थ में इनका वर्णन नहीं किया गया है। नेति के रूप में केवल सूत्र नेति को ही मान्यता मिली है। यहाँ पर हम नेति के सम्बंध में उत्पन्न होने वाले सभी सन्देहों का निवारण करने का प्रयास करेंगे।

जलनेति :- जलनेति में जल के द्वारा नासिका मार्ग की शुद्धि की जाती है। लेकिन किसी हठयोग के ग्रन्थ में इसका वर्णन नहीं मिलता। नेति के इस प्रकार की का निर्देशन कुछ आधुनिक योग आचार्यों ने किया है। उनका मानना है कि सूत्रनेति से पहले यदि साधक जलनेति का अभ्यास करता है तो उसे सूत्रनेति करने में आसानी होगी। उन्होंने जलनेति को सूत्रनेति के पूर्व कर्म (प्री वर्कआउट) के रूप में माना है। जो कि पूरी तरह से न्याय संगत है। जिस प्रकार सूर्य नमस्कार व आसन करने से पूर्व साधक अपने शरीर को गर्माने (वार्मिंग -अप) के लिए कुछ सूक्ष्म क्रियाओं का अभ्यास करता है। ताकि कठिन अभ्यास करने से पहले उसका शरीर अच्छी तरह से तैयार हो सके। ठीक इसी प्रकार जलनेति को भी सूत्रनेति से पहले किया जाने वाली क्रिया माना जाता है। इससे साधक अपनी नासिका को सूत्रनेति करने के लिए अच्छी तरह से तैयार कर लेता है। साथ ही जलनेति करने से साधक को सूत्रनेति से मिलने वाले कुछ लाभ भी मिलते हैं। अतः आधुनिक योग आचार्यों द्वारा निर्देशित यह अभ्यास करने योग्य है।

रबड़नेति :- रबड़नेति को भी नेति क्रिया के एक प्रकार के रूप में प्रयोग किया जाता है। जिसमें साधक एक रबड़ की पतली पाइप द्वारा नासिका मार्ग की शुद्धि करता है। कुछ योग आचार्यों ने इसे सूत्रनेति के विकल्प के रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। रबड़नेति के विषय में मेरा मत थोड़ा अलग है। मैं व्यक्तिगत रूप से रबड़नेति करने के पक्ष में नहीं हूँ। रबड़नेति के अभ्यास से साधक को लाभ की बजाय हानि होती है। इसके पीछे मेरे दो-तीन तर्क हैं। आप भी यदि इन तर्कों पर विचार करेंगे तो आपको भी ऐसा ही प्रतीत होगा।

रबड़नेति का निर्माण रबड़ से होता है। रबड़ की किसी भी वस्तु या पदार्थ को बनाते हुए कई तरह के कैमिकलों का प्रयोग किया जाता है। जो कि स्वास्थ्य के लिए सौ प्रतिशत हानिकारक होते हैं। जब भी आप रबड़नेति को नाक द्वारा सूँघने का प्रयास करेंगे तो आपको उसमें से एक अजीब प्रकार की दुर्गन्ध आएगी। वह दुर्गन्ध उन कैमिकलों की होती है जिनसे उस रबड़नेति का निर्माण हुआ है। अब आप सोचें कि जिस व्यक्ति को पहले से ही एलर्जी की समस्या है। यदि वह रबड़नेति का अभ्यास करता है तो क्या रबड़नेति के कैमिकल से उसकी एलर्जी नहीं बढ़ेगी ? क्या वह रबड़नेति नाक जैसे अति संवेदनशील अंग के अन्दर जाने पर अपना दुष्प्रभाव नहीं दिखाएगी ?

दूसरा रबड़नेति के बनने के बाद उसके ऊपर लाल रंग की परत चढ़ाई जाती है। अब आप ररंग बनाने की विधि के विषय में जानकारी हासिल करोगे तो आपको पता चलेगा कि कोई भी रंग बिना कैमिकल के बन ही नहीं सकता। इससे पता चलता है कि रबड़नेति के निर्माण में एक बार नहीं बल्कि दो-दो बार विभिन्न प्रकार के कैमिकलों का प्रयोग किया जाता है। अब आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि नासिका जैसे अति संवेदनशील अंग जो थोड़ी सी प्रतिकूल गन्ध को सूँघने पर ही जहाँ से छीकें आना शुरू हो जाती हैं। वहाँ पर इतने कैमिकलों से तैयार की गई रबड़नेति का क्या असर पड़ता होगा ?

तीसरा रबड़नेति को कई बार प्रयोग करने से उसकी मजबूती भी कम होने लगती है। जिससे उसके टूटने की आशंका ज्यादा हो जाती है। साथ ही सर्दी के मौसम में रबड़ में अकड़न आ जाती है। उससे भी उसका टूटने का खतरा बढ़ जाता है। दोनों ही कारणों से रबड़नेति करते समय उसके बीच में से टूटने का खतरा लगातार बना रहता है। जिससे साधक को किसी भी प्रकार की हानि हो सकती है।

ऊपर वर्णित कारणों से मुझे लगता है कि रबड़नेति का प्रयोग योग साधकों के लिए हितकारी नहीं है।

घृत, तेल व दुग्धनेति :- हमें बहुत बार घृत व दुग्धनेति के विषय में भी सुनने को मिलता है। इनमें से घृत नेति को हितकारी माना जा सकता है। क्योंकि घृत से नासिका मार्ग का संचालन सरल हो जाता है। जिससे कफ की निवृत्ति होती है, आँखों की रोशनी भी बढ़ती है और साथ ही सिर दर्द व माइग्रेन जैसी जटिल समस्या भी समाप्त हो जाती है। लेकिन यहाँ पर घृतनेति का अर्थ यह बिलकुल भी नहीं है कि जलनेति की तरह ही घृतनेति में घी का प्रयोग किया जाता है। घृतनेति में गुनगुने शुद्ध देसी घी की दो – चार बूंदें ही नाक में डाली जाती हैं। जिसको हम रात को सोने करते हैं तो इसका ज्यादा लाभ मिलता है। दूसरा कुछ व्यक्ति तेल नेति भी करते हैं। जिसकी विधि बिलकुल घृतनेति की तरह ही होती है। यह भी घृतनेति की भाँति ही लाभ देने वाली होती है। इसके साथ ही हम दुग्धनेति की भी बात करते हैं। दुग्धनेति में यही क्रिया दूध के साथ कि जाती है। इस क्रिया को भी ज्यादा हितकारी नहीं माना जाता है। इस क्रिया में लाभ की बजाय हानि होने की संभावना ज्यादा होती है।

अतः मेरे मतानुसार जलनेति, सूत्रनेति व घृत अथवा तेलनेति करने से साधक को कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। वहीं रबड़नेति व दुग्धनेति करने पर हानि होने की प्रबल संभावना रहती है। इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो गई है कि हठ प्रदीपिका व घेरण्ड संहिता में नेति क्रिया के एक ही प्रकार का वर्णन किया गया है। जिसे सूत्रनेति कहा जाता है। अन्य सभी प्रकार आधुनिक योग आचार्यों के अपने निजी मत हैं।

नेति क्रिया के लाभ

साधनान्नेतियोगस्य खेचरीसिद्धि माप्नुयात्। कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यद्दष्टि: प्रजायते ॥52॥

भावार्थ :- नेति क्रिया की साधना से योगी की खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। इसके साधक के सभी प्रकार के कफ रोगों का नाश होता है और उसे दिव्य द्दष्टि की प्राप्ति होती है।

लौलिकी / नौलि क्रिया विधि व लाभ

लौलिकी शब्द लोल शब्द से बना है। जिसका अर्थ है पेट को घुमाना। लौलिकी को नौलि क्रिया भी कहा जाता है। यह षट्कर्म का चौथा अंग है। इससे हमारे पांचन

तन्त्र की शुद्धि होती है। यह हमारे पांचन संस्थान के सभी आन्तरिक अंगों को मजबूत करने का काम करती है।

अमन्दवेगेतुन्दञ्च भ्रामयेदुभपार्श्वयो:। सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनम्॥53॥

भावार्थ :- पेट को पूरी तेज गति के साथ दोनों तरफ (दायें से बायीं व बायें से दायीं ओर) घुमाना लौकिकी अर्थात् नौलि क्रिया कहलाती है। इसके निरन्तर अभ्यास से यह साधक के सभी रोगों का नाश करती है। इसके साथ ही यह शरीर में स्थित जठराग्नि को बढ़ाती है। जिससे साधक का पाचन तंत्र मजबूत होता है।

विशेष :- नौलि के विषय में कुछ आचार्यों ने इसके चार प्रकारों का वर्णन करके एक नये विवाद को जन्म दे दिया है कि नौलि के कितने प्रकार माने गए हैं ? अब यदि हम हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार इसका उत्तर देखते हैं तो पता चलता है कि नौलि के एक ही प्रकार का वर्णन ग्रन्थकारों ने किया है। जबकि हम किसी से भी इस विषय में पूछते हैं तो हमें इसका उत्तर चार मिलता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इसका वास्तविक उत्तर क्या होना चाहिए ? यदि हम इसे ग्रन्थों के अनुसार देखते हैं तो इसका उत्तर हमें यही मिलता है कि नौलि एक ही प्रकार की होती है। इसके चार प्रकारों का वर्णन आधुनिक योग आचार्यों ने अपने मतानुसार किया है। जो अपनी जगह बिलकुल सही व सटीक है। लेकिन उसको इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है कि हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार भी इसके चार ही प्रकार हैं। जबकि ऐसा नहीं है। अतः मेरा उन सभी आचार्यों से अनुरोध है कि इन सभी प्रकारों को अपना निजी मत बताकर विषय को स्पष्ट करने का कष्ट करें। ताकि विद्यार्थियों में किसी भी प्रकार की कोई भ्रम की स्थिति उत्पन्न न हो।

त्राटक क्रिया

त्राटक क्रिया को महर्षि घेरन्ड ने षट्कर्म के पाँचवें अंग के रूप में माना है। यह मुख्य रूप से हमारे नेत्रों (आँखों) की शुद्धि करता है। साथ ही एकाग्रता के लिए भी यह अति महत्त्वपूर्ण होता है।

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्। पतन्ति यावदश्रूणि त्राटकं प्रोच्यते बुधै:॥54॥

भावार्थ :- आँखों को खोलने और बन्द करने की प्रक्रिया को रोककर, एक सूक्ष्म लक्ष्य की तरफ तब तक टकटकी लगाकर देखते रहना चाहिए जब तक कि आँखों से आंसू न बहने लगें। इस क्रिया को विद्वानों ने त्राटक कहा है।

विशेष :- त्राटक का अभ्यास करते हुए साधक किसी भी एक लक्ष्य की ओर ध्यान लगा सकता है। उसमें दीपक, मोमबत्ती की लौ अथवा कोई एक छोटे बिन्दु आदि कुछ भी हो सकता है।

कुछ आधुनिक योग आचार्यों ने त्राटक के तीन भेद किये हैं। जो इस प्रकार हैं :- 1. बाह्य त्राटक, 2. आभ्यंतर त्राटक, 3. अधोत्राटक। ये त्राटक के प्रकार किसी एक आचार्य के अनुसार हो सकते हैं। लेकिन इनका वर्णन हठयोग के किसी ग्रन्थ (हठ प्रदीपिका व घेरण्ड संहिता) में नहीं किया गया है। जब भी मैं किसी विद्यार्थी से पूछता हूँ कि त्राटक के कितने प्रकारों का वर्णन हठ प्रदीपिका अथवा घेरण्ड संहिता में किया गया है ? तो ज्यादातर विद्यार्थी कहते हैं कि हठ प्रदीपिका व घेरण्ड संहिता में त्राटक के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है। जिनमें वह ऊपर वर्णित तीनों प्रकारों को ही बताते हैं। जबकि यह गलत उत्तर है। इसके पीछे मैं यह नहीं कहना चाहता कि उन आचार्यों द्वारा बताए गए त्राटक के तीन प्रकार गलत है या उनका कोई औचित्य नहीं है। बल्कि मैं यहाँ पर सभी विद्यार्थियों को यह बताने का प्रयास कर रहा हूँ कि हठ प्रदीपिका व घेरण्ड संहिता में त्राटक के केवल एक ही प्रकार का वर्णन किया गया है तीन प्रकारों का नहीं। त्राटक के तीन प्रकार किसी आचार्य का अपना स्वयं का मत हो सकता है। इसी प्रकार नौलि के सम्बन्ध में भी कई आचार्यों का मानना है कि नौलि के चार प्रकार होते हैं। लेकिन हठ प्रदीपिका व घेरण्ड संहिता दोनों ही ग्रन्थों में नौलि के एक ही प्रकार का वर्णन किया गया है। नौलि के चार प्रकार का मत किसी आचार्य का निजी मत हो सकता है। उसको स्वामी स्वात्माराम व महर्षि घेरण्ड का मत बताकर विद्यार्थियों को भ्रमित करना बिलकुल अनुचित है। जिस प्रकार मैंने नेति क्रिया के प्रकरण में अपना मत बता कर रबड़नेति को हानिकारक बताया है। साथ ही जलनेति, घृतनेति, तेलनेति व दुग्धनेति के बारे में अपना मत स्पष्ट किया है। वह मेरा अपना मत है। उसका हठ प्रदीपिका व घेरण्ड संहिता से कोई लेना देना नहीं है।

ठीक उसी प्रकार यहाँ पर भी योग के आधुनिक आचार्यों को इस प्रकार किसी भी क्रिया के प्रकार बताते हुए यह स्पष्ट करना चाहिए कि यह हमारा मत अथवा विचार है। ऐसा करने से विद्यार्थियों में किसी प्रकार का कोई संशय नहीं रहेगा। जिससे परीक्षा के समय पर वह यौगिक ग्रन्थों के अनुसार ही प्रश्न का सही उत्तर देंगे। इससे किसी तरह का कोई सन्देह नहीं रहेगा।

त्राटक क्रिया के लाभ

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम्। नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टि: प्रजायते॥55॥

भावार्थ :- त्राटक क्रिया के अभ्यास से योगी को निश्चित रूप से शाम्भवी मुद्रा की प्राप्ति होती है। सभी नेत्र रोग समाप्त होते हैं और साथ ही दिव्य दृष्टि भी प्राप्त होती है।

विशेष :- परीक्षा की दृष्टि से त्राटक के सम्बन्ध में यह पूछा जा सकता है कि त्राटक क्रिया के फल के रूप में साधक को कौन सी मुद्रा की सिद्ध प्राप्त होती है ? जिसका उत्तर शाम्भवी मुद्रा है।

कपालभाति क्रिया के प्रकार

भालभाति का व्यवहारिक नाम कपालभाति है। सभी व्यक्ति इसे कपालभाति के नाम से ही जानते हैं। लेकिन महर्षि घेरण्ड ने इसे भालभाति कहकर संबोधित किया है। भाल का अर्थ है **'ललाट या चेहरा'।** और कपाल का अर्थ भी ललाट या चेहरा ही होता है। इसलिए भालभाति को कपालभाति कहा जाता है।

कपालभाति के विषय में प्रचलित धारणाएं :-

कपालभाति के विषय में कुछ लोगों को सन्देह है कि यह षट्कर्म की क्रिया की बजाय एक प्राणायाम है। ऐसा मानने वालों के लिए यह समझ लेना बहुत ही आवश्यक है कि हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार कपालभाति प्राणायाम नहीं बल्कि एक क्रिया है। यदि यह प्राणायाम होता तो महर्षि घेरण्ड इसका वर्णन कुम्भक (प्राणायाम) के अध्याय में करते जबकि उन्होंने इसका वर्णन षट्कर्म के रूप में किया है।

दूसरा इसके जो तीन भेद किए गए हैं, उनमें से पहले अर्थात वातक्रम कपालभाति की जो विधि बताई गई है। कुछ उस विधि के कारण इसे प्राणायाम मानते हैं।

क्योंकि वातक्रम कपालभाति में अनुलोम-विलोम की तरह श्वास को लेने व छोड़ने की विधि बताई गई है। लेकिन उसका वर्णन पहले इसलिए किया गया है ताकि व्युत्क्रम और शीतक्रम की क्रिया ठीक ढंग से हो पाए। पानी को नासिका से मुँह द्वारा और मुँह से नासिका द्वारा निकालने से पहले उसकी सफाई होना जरूरी है। जो कि वातक्रम कपालभाति द्वारा होती है।
कपालभाति को प्राणायाम समझने के पीछे सबसे प्रमुख कारण योग गुरु स्वामी रामदेव द्वारा करवाया जाने वाला कपालभाति प्राणायाम है। जब स्वामी रामदेव प्राणायाम का क्रम शुरू करते हैं, तो वह सबसे पहले कपालभाति प्राणायाम करवाते हैं। जिसकी विधि षट्कर्म वाले कपालभाति से बिलकुल अलग है। लेकिन बहुत सारे व्यक्ति षट्कर्मों में वर्णित कपालभाति को स्वामी रामदेव द्वारा बताया गया प्राणायाम समझने की भूल करते हैं। जबकि उस कपालभाति व षट्कर्म के कपालभाति में बहुत ज्यादा अन्तर है।
ऊपर वर्णित तर्कों से हमने कपालभाति के सम्बंध में विभिन्न मतों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिससे विद्यार्थियों को किसी प्रकार की असुविधा न हो।
कपालभाति परिचय :- कपालभाति षट्कर्म की छटी व अन्तिम क्रिया है। जिसके तीन प्रकार है –
वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः। भालभातिं त्रिधा कुर्यात्कफदोषं निवारयेत्॥56॥
भावार्थ :- भालभाति (कपालभाति) क्रिया के वातक्रम, व्युत्क्रम व शीतक्रम नामक तीन विशेष प्रकार हैं। जिनका अभ्यास करने से साधक के सभी कफ रोगों का निवारण (समाप्त) हो जाता है।
विशेष :- घेरण्ड संहिता में कपालभाति क्रिया के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है। जिनका क्रम इस प्रकार है :- 1. वातक्रम कपालभाति, 2. व्युत्क्रम कपालभाति, 3. शीतक्रम कपालभाति।
वातक्रम कपालभाति
इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत्पिङ्गलया पुनः। पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्॥57॥
भावार्थ :- इड़ा नाड़ी (बायीं नासिका) से श्वास को अन्दर भरें और पिंगला नाड़ी (दायीं नासिका) से श्वास को बाहर निकाल दें। फिर पिंगला नाड़ी (दायीं नासिका) से श्वास को अन्दर भरकर इड़ा नाड़ी (बायीं नासिका) से श्वास को बाहर निकाल देना ही वातक्रम कपालभाति होता है।
विशेष :- इडा नाड़ी का अर्थ बायीं नासिका व सूर्य नाड़ी का अर्थ दायीं नासिका होता है।
वातक्रम कपालभाति के लाभ
पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत्। एवमभ्यास योगेन कफदोषं निवारयेत्॥58॥
भावार्थ :- इस पूरक (श्वास को अन्दर लेना) व रेचक (श्वास को बाहर छोड़ना) क्रिया को कभी भी तेज गति के साथ नहीं करना चाहिए। इस प्रकार सहज रूप से करने पर यह सभी कफ दोषों का निवारण करता है।
व्युत्क्रम कपालभाति विधि व लाभ
नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्। पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेषमादोषं निवारयेत्॥59॥
भावार्थ :- नासिका के दोनों छिद्रों से पानी को पीकर मुहँ द्वारा बाहर निकाल दें और फिर उल्टे क्रम में ही मुहँ द्वारा पानी पीकर दोनों नासिका छिद्रों से पानी को बाहर निकाल दें। इस व्युत्क्रम कपालभाति द्वारा साधक के सभी कफ जनित रोगों का नाश होता है।
विशेष :- व्युत्क्रम का अर्थ होता है उल्टा कर्म। इसके नाम से ही विद्यार्थी इसकी विधि को याद रख सकते हैं। हम नासिका द्वारा वायु और मुहँ द्वारा पानी पीते हैं। लेकिन व्युत्क्रम होने के कारण इसमें नासिका द्वारा पानी पीकर मुहँ से निकालना और फिर पुनः मुहँ द्वारा पानी पीकर नासिका द्वारा बाहर निकालना होता है। तभी इसका नाम व्युत्क्रम कपालभाति है।
शीतक्रम कपालभाति विधि व लाभ
शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत्। एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्॥60॥
भावार्थ :- शीत्कार की आवाज करते हुए मुहँ द्वारा पानी पीकर नासिका के दोनों छिद्रों से बाहर निकाल दें। यह प्रक्रिया शीतक्रम कपालभाति कहलाती है। इसका अभ्यास करने से योगी का शरीर कामदेव की भाँति अत्यंत सुन्दर हो जाता है।
न जायते वार्द्धकं च ज्वरा नैव प्रजायते। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्॥61॥
भावार्थ :- शीतक्रम के अभ्यास से व्यक्ति में कभी भी बुढ़ापा नहीं आता है और न उसके शरीर में कभी जीर्णता (दुर्बलता) आती है। इसके अलावा साधक का सम्पूर्ण शरीर स्वच्छ (दोष रहित) रहता है और उसके सभी कफ दोषों का भी निवारण हो जाता है।
इति प्रथमोपदेश: समाप्तः॥
2 द्वितीय अध्याय (आसन वर्णन)
घेरण्ड संहिता के दूसरे अध्याय में सप्तांग योग के दूसरे अंग अर्थात् आसन का वर्णन किया गया है। घेरण्ड ऋषि ने आसनों के बत्तीस (32) प्रकारों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार आसन करने से साधक के शरीर में दृढ़ता (मजबूती) आती है। अब आसनों के क्रम को प्रारम्भ करते हैं।
आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः। चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितानि च॥1॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम्। तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम्॥2॥
भावार्थ :- इस पृथ्वी पर जितने भी जीवजन्तु अर्थात् प्राणी हैं आसनों की संख्या भी उतनी ही मानी गई है। प्राचीन काल में भगवान शिव ने उनमें से चौरासी लाख (8400000) आसनों को माना है। उसके बाद अर्थात् मध्यकाल में चौरासी सौ (8400) आसनों को प्रमुख माना गया था। जिनमें से मृत्युलोक अर्थात् वर्तमान समय में मात्र बत्तीस (32) आसनों को ही मनुष्य के लिए शुभ अर्थात् कल्याणकारी माना गया है।
विशेष :- आसनों की संख्या के विषय में सभी योग आचार्यों के अलग – अलग मत हैं। जिनमें महर्षि घेरण्ड ने घेरण्ड संहिता में बत्तीस (32) आसनों का, स्वामी

स्वात्माराम ने हठ प्रदीपिका में पन्द्रह (15) आसनों का, योगी श्रीनिवासन ने हठ रत्नावली में छत्तीस (36) आसनों का, योगी गुरु गोरक्षनाथ ने सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में मात्र तीन (3) आसनों का, शिव संहिता में मात्र चार (4) आसनों का, योगदर्शन के व्यास भाष्य में महर्षि व्यास ने तेरह (13) आसनों का वर्णन किया है। ऊपर वर्णित आसनों की संख्या को सभी विद्यार्थी अच्छे से याद कर लें। इनसे सम्बंधित कोई भी प्रश्न परीक्षा में पूछा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऊपर वर्णित श्लोकों से सम्बंधित भी कुछ प्रश्न बनते हैं। जिनका वर्णन करना आवश्यक है। जैसे-आसनों की संख्या किनके बराबर मानी गई है ? जिसका उत्तर है सभी जीवजन्तुओं के बराबर। प्राचीन काल में भगवान शिव ने आसनों के कितने प्रकार (संख्या) माने हैं ? जिसका उत्तर है चौरासी लाख। मध्यकाल में आसनों के कितने प्रकारों को मान्यता मिली है ? जिसका उत्तर है चौरासी सौ। मृत्युलोक अर्थात् वर्तमान समय में, महर्षि घेरण्ड या घेरण्ड संहिता में आसनों की कितनी संख्या मानी गई है ? जिसका उत्तर है बत्तीस।

बत्तीस आसनों के नाम

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रञ्च स्वस्तिकम्। सिंहञ्च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ॥3 ॥

मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च। गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं संकटं तथा ॥4 ॥

मयूरं कुक्कुटं कुर्मं तथाचोत्तानकूर्मकम्। उत्तान मण्डूकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम् ॥5 ॥

शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजङ्गञ्चयोगासनम्। द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके हि सिद्धिदम् ॥6 ॥

भावार्थ :- इस मृत्युलोक अर्थात् वर्तमान समय में निम्न बत्तीस आसन ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त करवाने वाले हैं। जिनका वर्णन इस प्रकार है :- 1. सिद्धासन, 2. पद्मासन, 3. भद्रासन, 4. मुक्तासन, 5. वज्रासन, 6. स्वस्तिकासन, 7. सिंहासन, 8. गोमुखासन, 9. वीरासन, 10. धनुरासन, 11. मृतासन / शवासन, 12. गुप्तासन, 13. मत्स्यासन, 14. मत्स्येन्द्रासन, 15. गोरक्षासन, 16. पश्चिमोत्तानासन, 17. उत्कट आसन, 18. संकट आसन, 19. मयूरासन, 20. कुक्कुटासन, 21. कूर्मासन, 22. उत्तानकूर्मासन, 23. मण्डूकासन, 24. उत्तान मण्डूकासन, 25. वृक्षासन, 26. गरुड़ासन, 27. वृषासन, 28. शलभासन, 29. मकरासन, 30. उष्ट्रासन, भुजंगासन व 32. योगासन।

सिद्धासन वर्णन

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं संपीड्य गुल्फेतरम् मेढ्रे सम्प्रणिधाय तं तु चिबुकं कृत्वा हृदि स्थापितम्। स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरमेवंमोक्षविधायतेफलकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥7 ॥

भावार्थ :- एक पैर की एड़ी (विशेषतः बायें पैर की) से योनिस्थान (अंडकोशों के नीचे) को दबायें। दूसरे पैर की एड़ी को लिङ्गमूल (स्वाधिष्ठान चक्र के नीचे का वह स्थान जहाँ से लिंग शुरू होता है) पर रखें। इसके बाद अपनी ठुड्डी को हृदय प्रदेश के ऊपर स्थापित (टिकाएं) करके पूर्ण रूप से स्थिर होकर अर्थात् बिना किसी प्रकार की हलचल किये दृष्टि को दोनों भौहों के मध्य (आज्ञा चक्र) में लगाकर बैठना सिद्धासन कहलाता है। इस प्रकार सिद्धासन का अभ्यास करने से साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पद्मासन की विधि

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्। अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेद् एतद्व्याधिविनाशकारणपरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥8 ॥

भावार्थ :- बायीं जंघा पर दायें पैर को व दायीं जंघा पर बायें पैर को रखें। अब दोनों हाथों को कमर के पीछे से ले जाते हुए दायें हाथ से दायें व बायें हाथ से बायें पैर के अँगूठों को मजबूती से पकड़ें। इसके बाद अपनी ठुड्डी को छाती पर लगाकर नासिका के अग्र भाग (अगले हिस्से) को देखना पद्मासन कहलाता है। पद्मासन का अभ्यास करने से साधक के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष :- सामान्यतः ऊपर वर्णित पद्मासन की विधि को हम बद्ध पद्मासन के नाम से जानते हैं। लेकिन यहाँ पर महर्षि घेरण्ड ने इसे पद्मासन कहकर संबोधित किया है।

भद्रासन विधि व लाभ

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः। पादाङ्गुष्ठौ कराभ्याञ्च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ॥9 ॥

जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत्। भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशकम् ॥10 ॥

भावार्थ :- अपने दोनों पैरों की एड़ियों को उल्टा करके (पँजें पीछे व एड़ियां आगे की ओर) अंडकोशों के नीचे रखें। इसके बाद दोनों हाथों को पीछे की ओर ले जाकर पैरों के दोनों अँगूठों को मजबूती से पकड़ें फिर जालन्धर बन्ध लगाकर (ठुड्डी को छाती में लगाना) नासिका के अग्रभाग (अगले हिस्से) को देखना भद्रासन कहलाता है। भद्रासन का अभ्यास करने से साधक के सभी प्रकार के रोग समाप्त हो जाते हैं।

मुक्तासन वर्णन

पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि। समकायशिरोग्रीवं मुक्तासनन्तु सिद्धि दम् ॥11 ॥

भावार्थ :- पैर की बायीं ऐड़ी को गुदाद्वार में लगाकर उसके ऊपर दायें पैर की एड़ी को रखें। सिर व गर्दन को बिना हिलायें बिलकुल सीधी करके बैठना मुक्तासन कहलाता है। यह मुक्तासन साधक को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करता है।

वज्रासन वर्णन

जंघाभ्यां वज्रवत्कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ। वज्रासनं भवेदेतद्योगिनां सिद्धिदायकम् ॥12 ॥

भावार्थ :- दोनों जँघाओं को वज्र के समान मजबूत व स्थिर करके दोनों पैरों के पँजों को गुदा प्रदेश के दोनों ओर समान रूप से रखते हुए बैठना वज्रासन कहलाता है। यह वज्रासन योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाला होता है।

स्वस्तिकासन वर्णन

जानूर्वोरन्तरे कृत्वा योगी पादतले उभे। ऋजुकाय: समासीन: स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥13॥

भावार्थ :- दोनों पैरों के तलवों को पिंडलियों व जाँघों के बीच में रखकर (बायें पैर के तलवे को दायें पैर की पिंडली व जँघा के बीच व दायें पैर के तलवे को बायें पैर की पिंडली व जँघा के बीच में रखें) तनाव रहित अर्थात् सुखपूर्वक बैठना स्वस्तिकासन कहलाता है।

सिंहासन वर्णन

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतां गतौ। चितिमूलौ भूमिसंस्थौ कृत्वा च जानु नोपरि ॥14॥

व्यक्तवक्त्रो जलंध्रञ्च नासाग्रमवलोकयेत्। सिंहासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ॥15॥

भावार्थ :- दोनों पैरों के पँजों को अंडकोशों के नीचे जमीन में रखते हुए (पँजे नीचे व ऐड़ी ऊपर की ओर) दोनों घुटनों को जमीन में टिकाएं। इसके बाद के ठीक ऊपर मुहँ को पूरा खोलकर जालन्धर बन्ध लगाते हुए नासिका के अग्रभाग को देखना सिंहासन कहलाता है। सिंहासन का अभ्यास करने से साधक के सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

गोमुखासन वर्णन

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत्। स्थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृति: ॥16॥

भावार्थ :- साधक सर्वप्रथम अपने दोनों पैरों (पँजों) को भूमि पर रखकर अपनी पीठ (नितम्बों) के दोनों ओर स्थापित करें (इसमें दोनों घुटने एक – दूसरे को क्रॉस करते हुए एक – दूसरे के ऊपर नीचे रहेंगे) और शरीर को बिना हिलायें-डुलायें उसी स्थिति में रखें। इस प्रकार शरीर की आकृति गाय के मुख के समान बन जाती है। इसी को गोमुखासन कहा गया है।

विशेष :- गोमुखासन को परीक्षा की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण आसन माना जाता है। इससे सम्बंधित निम्न प्रश्न पूछे जाते हैं :- गोमुखासन में शरीर की आकृति गाय के किस अंग के समान होती है ? जिसका उत्तर है गाय के मुहँ अर्थात् मुख के समान। इसके अतिरिक्त गोमुखासन स्वयं में ही पूरक आसन होता है। इसको एक बार बायें पैर को ऊपर करके और फिर दायें पैर को ऊपर रखकर करने से ही इसको पूरक आसन माना जाता है। अतः इसका कोई विपरीत या पूरक आसन नहीं होता है।

वीरासन वर्णन

एकपादमथैकस्मिन्विन्यसेदूरूसंस्थितम्। इतरस्मिंस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम् ॥17॥

भावार्थ :- एक पैर के पँजे को उल्टा करके दूसरे पैर की जँघा पर रखें (जिस पैर के पँजे को जँघा पर रखा है उसके घुटने को जमीन पर टिकाकर रखना चाहिए)। फिर उस दूसरे पैर को पीछे की ओर रखें (जिस पैर पर पँजा रखा है)। यह विधि वीरासन कहलाती है।

धनुरासन वर्णन

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम्। कृत्वा धनुस्तुल्यपरिवर्त्तिताङ्गं निधाय योगी धनुरासनं तत् ॥18॥

भावार्थ :- जमीन पर पेट के बल लेटकर दोनों पैरों को पीछे की ओर डण्डे की तरह फैला कर रखें। अब दोनों हाथों से अपने पैरों को पकड़कर (बायें हाथ से बायां पैर व दायें हाथ से दायां पैर) शरीर को धनुष की तरह खींचते हुए अंगों को बदलना चाहिए। अंगों को बदलने का अर्थ है अपने दोनों हाथों को कन्धों के ऊपर से घुमाना। इससे दोनों हाथों की कोहनियाँ आगे की ओर हो जाती हैं। यह विधि धनुरासन कहलाती है।

मृतासन / शवासन वर्णन

उत्तान शववद् भूमौ शयानन्तु शवासनम्। शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ॥19॥

भावार्थ :- पेट व छाती को ऊपर की ओर करके भूमि पर सीधा लेटना शवासन कहलाता है। शवासन का अभ्यास करने से साधक के शरीर की थकान दूर होती है और चित्त को आराम मिलता है।

विशेष :- मृतासन का दूसरा नाम शवासन है। परीक्षा में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मृतासन का अन्य नाम क्या है ? इसके अलावा यह भी पूछा जा सकता है कि कौन सा आसन व्यक्ति की थकान मिटाने है और चित्त को विश्राम दिलाता है ? जिसका उत्तर है शवासन अथवा मृतासन।

गुप्तासन वर्णन

जानूर्वोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्। पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ॥20॥

भावार्थ :- सुखासन में बैठकर दोनों पैरों के पँजों को जाँघों के नीचे छिपाते हुए उनको पीछे की ओर रखें और उनके ऊपर गुदा प्रदेश को टिकाकर रखना गुप्तासन कहलाता है।

मत्स्यासन वर्णन

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनञ्चरेत्। कूर्पराभ्यां शिरो वेष्टय मत्स्यासनन्तु रोगहा ॥21॥

भावार्थ :- मुक्त पद्मासन करते हुए अर्थात् दोनों हाथों से पैरों के पँजों को बिना पकड़े केवल पद्मासन लगाकर सिर को अपनी दोनों कोहनियों के बीच में रखते हुए सीधा लेटना (कमर के बल लेटना) मत्स्यासन कहलाता है। मत्स्यासन साधक के सभी रोगों को दूर कर देता है।

पश्चिमोत्तान आसन वर्णन

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ संन्यस्तभालं चितियुग्ममध्ये। यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां योगिन्द्रपीठं पश्चिमोत्तानमाहुः ॥22॥

भावार्थ :- अपने दोनों पैरों को भूमि पर सामने की ओर फैलाते हुए दण्डासन की स्थिति में बैठकर अपने माथे को दोनों घुटनों के बीच में रखते हुए दोनों पैरों के पँजों को मजबूती के साथ पकड़ें। योगियों ने इसे प्रमुख आसन माना है। जिसे पश्चिमोत्तान आसन कहते हैं।

विशेष :- इस आसन में पीठ का अग्रगामी फैलाव होने से इसे पश्चिमोत्तान आसन कहा जाता है। इस प्रकार का प्रश्न भी कई बार परीक्षा में पूछ लिया जाता है।

मत्स्येंद्रासन वर्णन

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः। नम्राङ्गं वामपादं हि दक्षजानूपरि न्यसेत् ॥23॥

तत्र याम्यं कूपरञ्च याम्यं करे च वक्रकम्। भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्रमुच्यते ॥24 ॥

भावार्थ :- अपने पेट को पीछे पीठ (कमर) की ओर ले जाने का प्रयास करें और बायें पैर को आगे से घुमाते हुए दायें पैर के घुटने के पास में रखें। इसके बाद मुहँ को भी घुमाते हुए बायें हाथ (कन्धे) के ऊपर रखें और दृष्टि को दोनों भौहों के बीच में (आज्ञा चक्र) में स्थित करदें। ऐसा करना मत्स्येन्द्रासन कहलाता है।

विशेष :- मत्स्येन्द्रासन का नाम ऋषि मत्स्येन्द्रनाथ के नाम पर रखा गया है। कई बार परीक्षा में पूछ लिया जाता है कि मत्स्येन्द्रासन का सम्बन्ध किससे है या मत्स्येन्द्रासन को मत्स्येन्द्रासन ही क्यों कहा जाता है ? जिसका उत्तर है ऋषि मत्स्येंद्रनाथ।

गोरक्षासन वर्णन

जानूर्वोन्तरे पादौ उत्तानौव्यक्तसंस्थितौ। गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ता भ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः ॥25 ॥

कण्ठ संकोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत्। गोरक्षासनमित्याह योगिनां सिद्धिकारणम् ॥26 ॥

भावार्थ :- अपने पैरों के दोनों तलवों को घुटने व जँघाओं के बीच में छिपाकर रखें और दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों पैरों की एड़ियों के ऊपर स्थापित करदें। अब अपने कण्ठ प्रदेश को सिकोड़ते हुए नासिका के अग्रभाग (नाक के अगले हिस्से को) देखना चाहिए। यह योगियों को सिद्धि प्राप्त करवाने वाला गोरक्षासन कहलाता है।

उत्कटासन वर्णन

अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फौ च खे गतौ। तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम् ॥27 ॥

भावार्थ :- दोनों पैरों के अँगूठों के ऊपर पूरे शरीर का भार रखते हुए दोनों एड़ियों को ऊपर उठाकर उनके ऊपर गुदा प्रदेश (दोनों नितम्बों) को रखें। ऐसा करना उत्कटासन कहलाता है।

विशेष :- श्लोक में गुदा प्रदेश को दोनों एड़ियों पर रखने की बात कही गई है जो कि सम्भव प्रतीत नहीं होती। यहाँ पर ऋषि घेरण्ड का मत दोनों नितम्बों से रहा होगा। ऐसा मेरा मानना है। क्योंकि दोनों एड़ियों पर एक साथ गुदा प्रदेश को रखना तर्कपूर्ण नहीं है।

संकटासन वर्णन

वामपादं चित्तेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले। पाद दण्डेन याम्येन वेष्टयेद्वामपादकम्। जानुयुग्मे कर युग्ममेतत्संकटासनम् ॥28 ॥

भावार्थ :- बायें पैर के घुटने के अग्रभाग (अगले हिस्से को) को जमीन पर टिकाते हुए दायें पैर को बायें पैर पर लपेटकर दोनों हाथों की हथेलियों को दोनों पैरों के घुटनों पर रखें। इस विधि को संकटासन कहते हैं।

मयूरासन वर्णन

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूपरे स्थापितनाभिपार्श्वम्। उच्चासनो दण्डवदुत्थित: खे मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥29 ॥

भावार्थ :- दोनों हाथों की हथेलियों को जमीन पर मजबूती के साथ रखते हुए दोनों कोहनियों को नाभि प्रदेश के दोनों तरफ (दायीं व बायीं ओर) रखकर पूरे शरीर को दोनों कोहनियों पर डण्डे के समान सीधा उठाकर रखना मयूरासन कहलाता है।

विशेष :- मयूरासन का नामकरण मोर नामक पक्षी पर रखा गया है। जिस प्रकार मोर अपने पूरे शरीर को अपनी कोहनियों पर उठाए रखता है। उसी प्रकार शरीर की स्थिति करने को मयूरासन कहते हैं। मयूरासन से जठराग्नि इतनी तीव्र हो जाती है कि विषाक्त भोजन खाने पर भी वह उसे शीघ्र पचा देता है। इसलिए मयूरासन करने वाले साधक को कभी भी पाचन तंत्र से जुड़ी कोई समस्या नहीं होती। इस आसन को महिलाओं के लिए वर्जित माना जाता है। इसका कारण यह है कि जहाँ पर दोनों कोहनियों को रखा जाता है। वहाँ पर महिलाओं का गर्भाशय स्थित होता है। इसके करने से कई बार महिलाओं को गर्भाशय से जुड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसलिए इसे महिलाओं के लिए प्रायः वर्जित माना जाता है। ऊपर वर्णित सभी बातें परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी हैं।

कुक्कुटासन वर्णन

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोन्तरे करौ। कर्पूराभ्यां समासीन उच्चस्थ: कुक्कुटासनम् ॥30 ॥

भावार्थ :- पद्मासन लगाकर अपने दोनों हाथों को पिंडलियों व जाँघों के बीच में से निकालते हुए भूमि पर दोनों हथेलियों को अच्छे से स्थापित करदें। इससे शरीर जमीन से ऊपर उठ जाएगा। इस स्थिति में साधक को ऐसा प्रतीत है कि वह किसी मंच अथवा लकड़ी के स्टूल पर बैठा है। इसे कुक्कुटासन कहते हैं।

कूर्मासन वर्णन

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ। ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ॥31 ॥

भावार्थ :- सुखासन में बैठकर अपने दोनों पैरों को उल्टा करके एड़ियों के ऊपर अंडकोशों को रखें। फिर अपने सिर, गर्दन व शरीर को सीधा रखना (एक सीध में) कूर्मासन कहलाता है।

विशेष :- कूर्मासन के विषय में पूछा जा सकता है कि कूर्मासन में कूर्म का क्या अर्थ है ? जिसका उत्तर है कछुआ। कछुए को संस्कृत भाषा में कूर्म बोला जाता है। इस आसन में शरीर की स्थिति कछुए के समान हो जाती है। जिसके कारण इसे कूर्मासन कहा जाता है।

उत्तानकूर्मासन वर्णन

कुक्कुटासनबन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम्। पीठं कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ॥32 ॥

भावार्थ :- पहले कुक्कुटासन की स्थिति में बैठें (कुक्कुटासन की स्थिति के लिए श्लोक संख्या 30 को देखें)। अब दोनों हाथों से अपने कन्धों अथवा गर्दन को पकड़कर कछुए के समान सीधे लेट जाना उत्तान कूर्मासन कहलाता है।

उत्तानमण्डूक आसन

मण्डूकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिर:। एतत् भेकवदुत्तानमेतदुत्तान मण्डुकम् ॥33 ॥

भावार्थ :- सर्वप्रथम मण्डूकासन की स्थिति में बैठकर (मण्डूकासन की स्थिति को जानने के लिए श्लोक संख्या 35 देखें) दोनों हाथों की हथेलियों से अपने सिर को

पकड़ते हुए मेंढक की तरह सीधा लेट जाना उत्तान मण्डूकासन कहलाता है।

वृक्षासन वर्णन

वामोरुमूलदेशे च याम्यं पादं निधान तु। तिष्ठेत्तु वृक्षवद् भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ॥34॥

भावार्थ :- बायें पैर की जँघा पर दायें पैर (तलवे को) को स्थापित (रखकर) करके भूमि पर पेड़ की भाँति सीधे खड़े रहना वृक्षासन कहलाता है।

विशेष :- वृक्षासन का सम्बंध पेड़ से होता है। जिस प्रकार पेड़ एक ही तने के ऊपर सीधा खड़ा रहता है। ठीक उसी प्रकार शरीर को एक पैर पर स्थिर कर देना वृक्षासन कहलाता है।

मण्डूकासन वर्णन

पृष्ठदेशे पादतलौ अङ्गुष्ठे द्वे च संस्पृशेत्। जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन् मण्डुकासनम् ॥35॥

भावार्थ :- दोनों घुटनों को जमीन पर रखते हुए दोनों पैरों के तलवों को पीछे की ओर करें और अँगूठों को जमीन पर टिकाकर रखें। शरीर की इस स्थिति को मण्डूकासन कहते हैं।

विशेष :- मण्डूकासन में मण्डूक शब्द का अर्थ मेंढक होता है। जिसको कई बार परीक्षा में भी पूछ लिया जाता है।

गरुड़ासन वर्णन

जंघोंरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुनी। जानूपरि करयुग्मं गरुड़ासनमुच्यते ॥36॥

भावार्थ :- दोनों जाँघों व घुटनों से भूमि को दबाते हुए दोनों हाथों घुटनों के ऊपर हाथों को टिकाकर रखना गरुड़ासन कहलाता है।

विशेष :- गरुड़ासन में गरुड़ शब्द का अर्थ गरुड़ नामक पक्षी होता है। जिसे हम इंग्लिश में ईगल व हिन्दी में बाज कहते हैं। लेकिन यहाँ पर गरुड़ासन की जिस विधि का वर्णन किया गया है और जो वर्तमान समय में गरुड़ासन की प्रचलित विधि है। इन दोनों में बहुत अन्तर है।

वृषासन वर्णन

याम्यगुल्फे पायुमूलं वामभागे पदेतरम्। विपरीतं स्पृशेद् भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ॥37॥

भावार्थ :- दायें पैर की एड़ी को गुदाद्वार पर रखकर बायें पैर को मोड़ते हुए भूमि पर उसका स्पर्श करें। यह वृषासन कहलाता है।

शलभासन वर्णन

अधास्य शेते करयुग्मं वक्षे भूमिमवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम्। पादौ च शून्ये च वितस्ति चोर्ध्वंवदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्रा: ॥38॥

भावार्थ :- पहले भूमि पर पेट के बल लेटकर दोनों हाथों की हथेलियों को छाती के नीचे जमीन की ओर करें। अब मुख को नीचे की तरफ रखते हुए दोनों पैरों को ऊपर आकाश की ओर लगभग एक बिलात (9 से 12 इंच तक) उठाएं। श्रेष्ठ योगी मुनियों ने इसे शलभासन का नाम दिया है।

विशेष :- शलभासन में शलभ शब्द का अर्थ टिड्डी नामक कीट होता है। जो पीछे से थोड़ा उठा रहता है। इसी कारण इस आसन का नाम शलभासन पड़ा है। यह परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी है।

मकरासन वर्णन

अधास्य शेते हृदयं निधाय भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ। शिरे च धृत्वा करदण्डयुग्मे देहाग्निकारं मकरासनं तत् ॥39॥

भावार्थ :- हृदय प्रदेश को नीचे रखते हुए पेट के बल लेटकर दोनों पैरों को पीछे की ओर डण्डे की तरह सीधा फैलाएं। इसके बाद दोनों हाथों की हथेलियों पर अपने माथे को रखें। इस स्थिति को मकरासन कहा गया है। इस मकरासन के अभ्यास से साधक की जठराग्नि प्रदीप्त (तीव्र) होती है।

विशेष :- मकर का अर्थ होता है मगरमच्छ। जब मगरमच्छ आराम करता है तो वह इसी अवस्था में रहता है साथ ही मगरमच्छ की पाचन शक्ति बहुत अच्छी होती है। इसलिए मगरमच्छ के जैसी अवस्था होने व उस जैसी पाचन शक्ति होने के कारण इसे मकरासन का नाम दिया गया है।

उष्ट्रासन वर्णन

अधास्य शेते पदयुग्मव्यस्तं पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम्। आकुञ्चयेत्सम्यगुदरास्यगाढमौष्ट्रञ्च पीठं योगिनो वदन्ति ॥40॥

भावार्थ :- अपने मुख को नीचे (पीछे की ओर) करते हुए दोनों पैरों को पीछे की ओर करते हुए अलग-अलग खोलें। दोनों हाथों को घुमाते हुए पैरों को पकड़ें। इस अवस्था में पेट को अधिक से अधिक अन्दर की तरफ सिकोड़ें। इस स्थिति को योगीजनों ने उष्ट्रासन कहा है।

विशेष :- उष्ट्रासन में उष्ट्र शब्द का अर्थ ऊँट होता है। ऊँट के समान आकृति होने के कारण इसे उष्ट्रासन कहा जाता है।

भुजंगासन वर्णन

अङ्गुष्ठनाभिपर्यन्तमधोभूमौ विनिन्यसेत्। करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्ध्वंशीर्ष: फणीव हि ॥41॥

देहाग्निर्वर्द्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम्। जागर्ति भुजनी देवी भुजंगासनसाधनात् ॥42॥

भावार्थ :- दोनों हाथों की हथेलियों को जमीन में रखकर नाभि तक के शरीर को सिर समेत साँप के समान (जिस प्रकार साँप अपने फण को उठाता है) ऊपर की ओर उठाएं। दोनों हाथों के अँगूठे नाभि की ओर अथवा उसके समीप होने चाहिए। इस स्थिति को भुजंगासन कहते हैं। भुजंगासन का अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि प्रतिदिन तीव्र होती जाती है। इससे सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। इसके अलावा भुजंगासन की साधना करने से भुजंगी देवी (कुण्डलिनी शक्ति) जागृत होती है।

विशेष :- भुजंग शब्द का अर्थ साँप होता है। साँप को ही संस्कृत भाषा में भुजंग बोला जाता है। इसमें शरीर की स्थिति साँप की भाँति होने से इसे भुजंगासन कहा जाता है। इसके अभ्यास से साधक की कुण्डलिनी शक्ति भी जागृत होती है। यह परीक्षा की दृष्टि से काफी उपयोगी जानकारी है।

योगासन वर्णन

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि। आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ॥43॥

पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्। योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ॥44॥

भावार्थ :- दोनों पैरों के तलवों को ऊपर की ओर करते हुए अपनी जाँघों पर रखें। अब दोनों हाथों की हथेलियों को ऊपर की ओर (सीधी) करते हुए पैरों पर रखें। इसके बाद श्वास को शरीर के अन्दर भरकर नासिका के अग्रभाग (अगले हिस्से) को देखना चाहिए। योगियों ने इसे योग साधना को साधने (सफलता दिलाने वाला) वाला कहते हुए योगासन का नाम दिया है।

॥इति द्वितीयोपदेश: समाप्त: ॥

3 तृतीय अध्याय (मुद्रा प्रकरण)

घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय का विषय मुद्रा है। जिसमें ऋषि घेरण्ड ने सिद्धियों की प्राप्ति के लिए पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया है। मुद्रा के फल को बताते हुए कहा है कि मुद्राओं का अभ्यास करने से साधक को स्थिरता प्राप्त होती है।

मुद्रा वर्णन (25)

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्। मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥1 ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी। तडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पचंधारणा ॥2 ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी। पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम् ॥3 ॥

भावार्थ :- महामुद्रा, नभोमुद्र, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तडांगी, मांडवी, शाम्भवी, पञ्चधारणा (पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा, आकाशी धारणा), अश्वनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी और भुजंगिनी यह पच्चीस (25) मुद्राएँ योगियों को सिद्धियाँ प्रदान करवाने वाली हैं।

विशेष :- इस तीसरे अध्याय में ऋषि घेरण्ड ने पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया है। जो साधक को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करती हैं। इन मुद्राओं में पाँच प्रकार की धारणाओं का भी वर्णन किया गया है। जो कि मुद्राओं के ही प्रकार हैं। परीक्षा में इससे सम्बंधित भी पूछा जाता है कि घेरण्ड संहिता में कितनी धारणाओं का वर्णन किया गया है ? जिसका उत्तर है पाँच। इसके अलावा यह भी पूछा जा सकता है कि धारणाओं का वर्णन सप्तांग योग अथवा घेरण्ड संहिता के किस अंग में किया गया है ? जिसका उत्तर है योग के तीसरे अंग / तीसरे अध्याय में वर्णित मुद्राओं में। इसके साथ ही मुद्राओं में तीन प्रकार के बन्धों का भी वर्णन किया गया है :- उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध व मूलबन्ध। इन तीनों बन्धों को एक साथ लगाने को महाबन्ध का नाम दिया गया है।

मुद्राओं का फल

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ। येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धि: प्रजायते ॥4 ॥

भावार्थ :- हे देवी! (यहाँ पर देवी शब्द भगवान शिव की ओर से माता पार्वती के लिए कहा गया है) मैंने तुम्हारे सम्मुख (सामने) जिन मुद्राओं के समूह का वर्णन किया है। इन सभी को केवल जानने मात्र से ही साधक को सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मुद्राओं की गोपनीयता

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्। प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥5 ॥

भावार्थ :- इन सभी मुद्राओं को पूरी तरह से गोपनीय रखना चाहिए। चाहे जिसको भी इनका ज्ञान नहीं देना चाहिए। यह मुद्राएँ देवताओं के लिए भी दुर्लभ (प्राप्त करना कठिन हैं) हैं। इनके अभ्यास से योगी साधक को आनन्द की प्राप्ति होती है।

विशेष :- यहाँ पर चाहे जिसको भी इनका ज्ञान न देने से अभिप्राय यह है कि इनका ज्ञान हमेशा ही योग्य साधक को देना चाहिए। जो साधक इनका ज्ञान प्राप्त करने के लायक नहीं है। उसे कभी भी इनका ज्ञान नहीं देना चाहिए। इस प्रकार अयोग्य व्यक्ति को दिया गया ज्ञान कभी भी फलीभूत नहीं होता। अतः योग्य साधक को ही इनका उपदेश देना चाहिए।

महामुद्रा विधि वर्णन

पायुमूलं वाम गुल्फे सम्पीड्य दृढ़यत्नतः। याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुल: ॥6 ॥
कण्ठ सङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षीयत्। महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभि: ॥7 ॥

भावार्थ :- बायें पैर की एड़ी को गुदाद्वार के मूल भाग (अंडकोशों व गुदाद्वार के बीच में) पर पूर्ण प्रयास के साथ लगाते हुए उसको एड़ी से दबाएं। अब दायें पैर को सामने की तरफ फैलाते हुए दोनों हाथों से दायें पैर के अँगूठे को पकड़ें। इसके बाद अपने कण्ठ अर्थात् गले को सिकोड़ते हुए अपनी दोनों भौहों (दोनों आँखों के बीच में स्थित आज्ञा चक्र पर) के बीच में देखें। विद्वानों ने इसे महामुद्रा का नाम दिया है।

महामुद्रा का फल

क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरं तथा। नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात् ॥8 ॥

भावार्थ :- महामुद्रा के अभ्यास से साधक के क्षय व कासं रोग अर्थात् श्वास व बलगम सम्बन्धी रोग जैसे दमा व खाँसी आदि, गुदाद्वार के फोड़े या बवासीर व भगन्दर आदि रोग, प्लीहा (मूत्र मार्ग से धातुओं का बहना), पुराना बुखार आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष :- परीक्षा की दृष्टि से यह पूछा जा सकता है कि महामुद्रा से कौन से रोग नष्ट होते हैं ? जिसका उत्तर ऊपर भावार्थ में दिया गया है।

नभोमुद्र विधि व फल वर्णन यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा। ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा। नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥9 ॥

भावार्थ :- योगी को सदा अपने सभी कार्यों को करते हुए एक जगह स्थित अथवा स्थिर होकर अपनी जीभ को ऊपर आकाश की ओर करते हुए उससे वायु को धारण अर्थात् वायु का पान करना चाहिए। इसे नभोमुद्रा कहा जाता है। इसका अभ्यास करने से योगी साधकों के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष :- नभोमुद्रा के सम्बंध में पूछा जा सकता है कि नभोमुद्रा में साधक द्वारा किसका सेवन या पान किया जाता है ? जिसका उत्तर है वायु।

उड्डीयान मुद्रा विधि व फल वर्णन

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्। उड्डानं कुरुते यस्माद विश्रान्तं महाखग:। उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥10॥

समग्राद् बन्धनादेतदुड्डीयानं विशिष्यते। उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्ति: स्वाभाविकी भवेत्॥11॥

भावार्थ :- पेट में स्थित नाभि प्रदेश व उससे ऊपर के भाग को पीछे की ओर खींचना उड्डीयान बन्ध कहलाता है। उड्डीयान बन्ध से प्राण ऊर्जा निरन्तर ऊपर की ओर उर्ध्वगामी होती है। यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी हाथी के सामने शेर के समान होता है। इस उड्डीयान बन्ध को सभी बन्धों में विशिष्ट (प्रमुख) माना गया है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करने से साधक को बिना किसी विशेष प्रयास के स्वयं ही मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष :- उड्डीयान बन्ध को सभी बन्धों (उड्डीयान, जालन्धर व मूलबन्ध) में श्रेष्ठ माना गया है। विद्यार्थियों के लिए यह उपयोगी जानकारी है। उड्डीयान बन्ध के सम्बंध में कुछ अन्य प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं। जैसे – किस यौगिक क्रिया से पूर्व हमें उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करना चाहिए ? जिसका उत्तर है नौलि क्रिया। उड्डीयान बन्ध में श्वास की स्थिति क्या होती है ? जिसका उत्तर है श्वास को बाहर निकाल कर बाहर ही रोककर अर्थात् बह्यवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में उड्डीयान बन्ध का अभ्यास किया जाता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि प्राण का रेचन करके हमें उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध विधि व फल वर्णन

कण्ठ सङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत्। जालन्धर कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्। जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥12॥

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्। षण्मासमभ्सद्यो यो हि स सिद्धो नात्र संशय: ॥13॥

भावार्थ :- किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर अपने कण्ठ को सिकोड़कर ठुड्डी को छाती पर लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह शरीर में स्थित सभी सोलह आधारों को बन्ध करता है अर्थात् इसके करने से सभी आधारों में भी अपने आप ही बन्ध लग जाता है। जालन्धर बन्ध नामक श्रेष्ठ मुद्रा के अभ्यास से मृत्यु का भी नाश हो जाता है। यदि निरन्तर छ: महीने तक जालन्धर बन्ध का अभ्यास किया जाए तो यह साधक को सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करता है। छ: महीने के अभ्यास से जालन्धर बन्ध सिद्ध हो जाता है। इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह अथवा शक नहीं है।

विशेष :- जालन्धर बन्ध के सम्बंध में यह पूछा जा सकता है कि किस मुद्रा अथवा बन्ध का अभ्यास करने से शरीर में स्थित सभी सोलह आधारों को बांधा अथवा स्थिर किया जा सकता है ? जिसका उत्तर जालन्धर बन्ध है। दूसरा यह भी पूछा जा सकता है कि किस मुद्रा या बन्ध में सोलह आधारों का वर्णन किया गया है ? या पूछा जा सकता है कि जालन्धर बन्ध के अनुसार शरीर में कितने आधार माने गए हैं ? उत्तर है सोलह (16)। इसके अलावा यह भी पूछा जा सकता है कि जालन्धर बन्ध कितने समय में सिद्ध हो जाता है ? उत्तर है छ: महीने में। ऊपर वर्णित प्रश्न परीक्षा की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं।

मूलबन्ध विधि व फल वर्णन

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्तत:। नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधी: ॥14॥

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्। जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते॥15॥

संसारसमुद्रं तर्त्तमभिलषति य: पुमान्। विरलेसुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत्॥16॥

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्। साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालस: ॥17॥

भावार्थ :- बुद्धिमान साधक पहले बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान (अंडकोशों के नीचे का स्थान) को दबाते हुए अपने नाभि प्रदेश व मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) को प्रयत्नपूर्वक सीधा तानकर रखें। इसके बाद अपने दायें पैर की एड़ी से अपने लिङ्ग को अच्छी तरह से दबाकर रखें अर्थात् एड़ी को लिङ्ग के ऊपर स्थापित कर देना चाहिए। इस प्रकार यह मूलबन्ध नामक मुद्रा साधक के बुढ़ापे को खत्म करने वाली होती है। जो भी व्यक्ति इस जीवन रूपी समुन्द्र को पार करने की इच्छा रखता है, उसे कहीं एकांत स्थान पर जाकर स्थिर मन द्वारा इस मूलबन्ध मुद्रा का अच्छी प्रकार से अभ्यास करना चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास से साधक के सभी बन्धनों का नाश होता है और प्राण वायु की सिद्धि प्राप्त होती है। अतः योग साधक को मौन भाव से युक्त होकर आलस्य को पूरी तरह से त्यागते हुए इस भली-भाँति इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- मूलबन्ध के अभ्यास से योगी को कभी बुढ़ापा नहीं आता व उसके सभी बन्धन समाप्त हो जाते हैं। साथ ही इसके अभ्यास से साधक संसार रूपी सागर को पार कर लेता है।

महाबन्ध वर्णन

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्। दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधी: ॥18॥

शनै: शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छन:। जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते॥19॥

भावार्थ :- बायें पैर की एड़ी से गुदामार्ग को दबाकर उसका निरोध करते हुए दायें पैर की एड़ी से योनिस्थान को प्रयास पूर्वक दबाएं। इसके बाद धीरे-धीरे से गुदास्थान व योनिस्थान का आकुंचन (उसे सिकोड़ें) करे। इसके साथ ही प्राणवायु को शरीर के अन्दर रोकते हुए जालन्धर बन्ध लगाएं। इस विधि को महाबन्ध कहा गया है।

विशेष :- ऊपर वर्णित महाबन्ध की विधि में मूलबन्ध व जालन्धर बन्ध की विधियाँ ही प्रयोग की गई हैं। उड्डीयान बन्ध का इसमें प्रयोग नहीं किया गया है।

महाबन्ध फल

महाबन्ध: परो बन्धो जरामरणनाशन:। प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम्॥20॥

भावार्थ :- महाबन्ध मुद्रा के अभ्यास से बुढ़ापा व मृत्यु का नाश होता है। महाबन्ध को सभी बन्धों में श्रेष्ठ माना गया है। इस मुद्रा के प्रभाव से साधक की सभी इच्छाएँ (कामनाएँ) पूर्ण होती हैं।

विशेष :- महाबन्ध मुद्रा मृत्यु व बुढ़ापा दोनों का नाश करता है। इसे केवल सभी बन्धों में श्रेष्ठ माना गया है न कि सभी मुद्राओं में। इससे साधक की सभी कामनाएँ भी पूर्ण होती हैं। यह सब परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी है।

महावेध की उपयोगिता

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना। मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा॥21॥

भावार्थ :- जिस प्रकार पुरुष के बिना नारी के रूप (सुन्दर रंग), यौवन (जवानी) व लावण्य (मनमोहक सुंदरता) का का कोई महत्त्व नहीं है अर्थात् पुरुष के बिना यह सब निरर्थक होता है। ठीक उसी प्रकार महावेध मुद्रा के बिना मूलबन्ध व महाबन्ध का कोई महत्त्व नहीं है अर्थात् महावेध के बिना मूलबन्ध व महाबन्ध का अभ्यास करना निरर्थक है।

विशेष :- इस श्लोक में महावेध मुद्रा के महत्त्व को बताया गया है। परीक्षा की दृष्टि से यह पूछा जा सकता है कि किस मुद्रा का अभ्यास किये बिना मूलबन्ध व महाबन्ध मुद्रा को निरर्थक अथवा फलहीन बताया गया है ? जिसका उत्तर है महावेध मुद्रा।

महावेध मुद्रा विधि

महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं चरेत्। महावेध: समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायक: ॥22॥

भावार्थ :- पहले साधक महाबन्ध मुद्रा की स्थिति में बैठे इसके बाद उड्डीयान बन्ध को लगाते हुए कुम्भक (प्राणवायु को बाहर रोकें) का अभ्यास करें। इस प्रकार यह महावेध मुद्रा कहलाती है। जो योगियों को सिद्धि प्रदान करती है।

विशेष :- महावेध मुद्रा में उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध व मूलबन्ध तीनों बन्धों का प्रयोग किया जाता है। परीक्षा में इससे सम्बंधित प्रश्न पूछा जा सकता है कि किस मुद्रा में तीनों बन्ध एक साथ लगाए जाते हैं ? जिसका उत्तर है महावेध मुद्रा।

महावेध मुद्रा का फल

महाबन्धमूलबन्धौ महावेध समन्वितौ। प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तम: ॥23॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते। गोपनीय: प्रयत्नेन वेधायं योगिपुङ्गवै: ॥24॥

भावार्थ :- जो योग साधक प्रतिदिन मूलबन्ध व महाबन्ध के साथ महावेध मुद्रा का अभ्यास करता है, वह योग का ज्ञानी अथवा श्रेष्ठ योगी कहलाता है। जिसे न तो कभी बुढ़ापा सताता है और न ही वह कभी मृत्यु से भयभीत होता है। तभी सभी श्रेष्ठ योगियों ने महावेध मुद्रा की विधि को प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखने की बात कही है।

विशेष :- महावेध मुद्रा करने वाले योगी को श्रेष्ठ योगी माना गया है। इसके अलावा यह मुद्रा बुढ़ापा व मृत्यु के प्रभाव को खत्म कर देती है।

खेचरी मुद्रा विधि

जिह्वाधो नाडीं सञ्छिन्नां रसनां चालयेत् सदा। दोहेयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥25॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्। यावद् गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति खेचरी ॥26॥
रसनां तालुमध्ये तु शनै: शनै: प्रवेशयेत्। कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥27॥

भावार्थ :- जीभ के नीचे स्थित नाड़ी (जो जीभ गले से जोड़ कर रखती है) को हल्का सा काटकर सदा उसको चलाना चाहिए अर्थात् जीभ को पकड़कर उसे आगे व पीछे की ओर खींचना चाहिए। उसके बाद जीभ के ऊपर मक्खन लगाकर उसका दोहन (जिस प्रकार गाय अथवा भैंस का दूध निकालते हुए उनके स्तनों को खींचते हैं) करना चाहिए और फिर लोहे की चिमटी से जीभ को पकड़कर उसे आगे की तरफ खींचे। इस प्रकार का अभ्यास प्रतिदिन करने से साधक की जीभ लम्बी हो जाती है और वह दोनों भोहों (आज्ञा चक्र) तक पहुँच जाती है। जैसे ही साधक की जीभ दोनों भौहों के बीच तक पहुँच जाती है वैसे ही उसकी खेचरी सिद्ध होने लगती है। इसके बाद जीभ को धीरे-धीरे उलटते हुए (उल्टी करके) तालु प्रदेश (गले के बीच में) के पीछे स्थित छिद्र में उसको प्रविष्ट (उसका प्रवेश) करवाएं और दृष्टि को दोनों भौहों के बीच में स्थिर करें अर्थात् दोनों भौहों के बीच में देखें। इसे खेचरी मुद्रा कहा जाता है।

विशेष :- खेचरी मुद्रा सभी मुद्राओं में अपना प्रमुख स्थान रखती है। इसे करने के लिए साधक को काफी समय व धैर्य का पालन करना पड़ता है। साथ ही इसे किसी अनुभवी योगी से ही सीखा जा सकता है। खेचरी मुद्रा करते हुए जब जीभ का दोहन किया जाता है तब साधक को ताजे मक्खन का प्रयोग करना अनिवार्य होता है साथ ही उसे लोहे की किसी चिमटी से खींचना पड़ता है। क्योंकि मक्खन लगने के बाद जीभ को हाथ से नहीं खींचा जा सकता। यह कुछ उपयोगी जानकारी थी जिसके सम्बन्ध में पूछा जा सकता है।

खेचरी मुद्रा का फल

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते। न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेह: स जायते ॥28॥
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुत:। न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गम: ॥29॥
लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्। कपालवक्त्र संयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥30॥
नाना रस समुद् भूतमानन्दं च दिने दिने। आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्तं कषायकम् ॥31॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च। द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥32॥

भावार्थ :- जो साधक खेचरी मुद्रा का अभ्यास करता है उसे न तो कभी मूर्च्छा (अचेतन अवस्था) आती है, न ही उसे भूख व प्यास परेशान करती है, न उसे कभी आलस्य आता है, न ही उसे कभी कोई रोग होता है, न ही वह कभी बूढ़ा होता है और न ही वह कभी मृत्यु को प्राप्त होता है। बल्कि उसका शरीर देवताओं के समान कान्तिमान हो जाता है।

उसके शरीर को अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकती, पानी उसे गीला नहीं कर पाता है और न ही साँप के काटने (डसने) का उस पर कोई प्रभाव होता है। उसका शरीर सदा कान्तिमान अर्थात् तेजयुक्त होता है। उसे निश्चित रूप से समाधि की प्राप्ति होती है। कपाल और मुहँ का संयोग अर्थात् कपाल व मुख में एकरूपता होने से उसकी जीभ को अनेक या सभी प्रकार के रसों की प्राप्ति हो जाती है।

उसे दिन – प्रतिदिन अनेक प्रकार के रसों का अनुभव होता रहता है। इस क्रम में सबसे पहले लवण (नमकीन खाद्य पदार्थों जैसा स्वाद) और क्षारीय (जामुन, गाजर, नींबू आदि पदार्थों जैसा स्वाद) उसके बाद तिक्त (तीखे जैसे-मिर्च व मसालों जैसा स्वाद) और कषाय (कड़वे जैसे-करेला आदि खाद्य पदार्थों जैसा स्वाद) रसों का अनुभव होता है।

इनके बाद साधक को ताजे मक्खन, घी, दूध, दही, तक्र (लस्सी), शहद, अंगूरों का रस व उसके बाद अन्त में अमृत जैसे रसों का अनुभव अथवा उत्पत्ति होती है।

विशेष :- खेचरी मुद्रा के लाभों की सूची अत्यंत लम्बी है। इसके अलावा इसे मुख्य मुद्राओं में से एक माना गया है। अतः सभी विद्यार्थी इन सभी श्लोकों को ध्यानपूर्वक पढ़ें। परीक्षा की दृष्टि से यह अत्यंत उपयोगी हैं।

विपरीतकरणी मुद्रा विधि

नाभिमूलेवसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमा:। अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नर: ॥33॥
ऊर्ध्वं च योजयेत् सूर्यञ्चन्द्रञ्च अध आनयेत्। विपरीतकरणी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥34॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहित:। उर्ध्वपाद: स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥35॥

भावार्थ :- मनुष्य के शरीर में सूर्य नाभि के मूलभाग अर्थात् नाभि के बीच में निवास करता है और चन्द्रमा तालु प्रदेश अर्थात् गले में रहता है। चन्द्रमा से स्रावित (बहने) होने वाले रस का सूर्य द्वारा ग्रहण कर लेने से ही साधक की मृत्यु होती है।

अपने सूर्य (नाभि प्रदेश) को ऊपर की ओर व चन्द्रमा (तालु प्रदेश) को (नीचे की ओर ले जाने को ही विपरीतकरणी मुद्रा कहा गया है। जो सभी तन्त्र के ग्रन्थों में गोपनीय अर्थात् जिसे तन्त्र विद्या के सभी ग्रन्थों में गुप्त रखने की बात कही गई है।

इसके लिए साधक को एकाग्र होकर अपने सिर को दोनों हाथों के बीच में जमीन पर रखकर पैरों को ऊपर आकाश की ओर करके शरीर को उसी अवस्था में स्थिर कर देने को ही विपरीतकरणी मुद्रा माना गया है।

विपरीतकरणी मुद्रा का फल

मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युञ्च नाशयेत्। स सिद्ध: सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥36॥

भावार्थ :- जो योगी विपरीत करणी मुद्रा की साधना को प्रतिदिन करता है। वह इसमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जिससे वह सभी लोकों अर्थात् पूरे विश्व में सिद्ध पुरुष कहलाता है। उसके लिए बुढ़ापा और मृत्यु भी नष्ट हो जाते हैं। वह प्रलय अर्थात् सृष्टि के विनाश के समय भी दु:ख का अनुभव नहीं करता।

विशेष :- परीक्षा की दृष्टि से विपरीतकरणी मुद्रा के सम्बंध में निम्न प्रश्न पूछे जा सकते हैं। जैसे-विपरीतकरणी मुद्रा किस आसन से सम्बंधित मानी जाती है ? अथवा विपरीतकरणी मुद्रा में किस आसन की विधि अपनाई जाती है ? जिसका उत्तर है सर्वांगासन। शरीर में सूर्य का स्थान कहाँ पर है ? जिसका उत्तर है नाभि प्रदेश में। शरीर में चन्द्रमा का स्थान कहाँ पर स्थित है ? जिसका उत्तर है तालु प्रदेश में। शरीर में बहने वाले अमृत को किस मुद्रा द्वारा सुरक्षित रखा जा सकता है ? जिसका उत्तर है विपरीतकरणी मुद्रा द्वारा।

योनिमुद्रा विधि वर्णन

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम्। अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥37॥
काकोभि: प्राणंसङ्कृष्य अपाने योजयेत्तत:। षट्चक्राणि क्रमाद् ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधी: ॥38॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी। जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥39॥
शक्तिमय: स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमम् । नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम् ॥40॥
शिवशक्ति समायोगादेकान्ते भुवि भावयेत्। आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ॥41॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्ल्लभा। सकृत्तु लाभसंसिद्धि: समाधिस्थ: स एव हि ॥42॥

भावार्थ :- योनिमुद्रा के लिए सिद्धासन में बैठकर अपने कानों, आँखों और मुहँ को अँगूठे, तर्जनी (पहली अँगुली), मध्यमा (दूसरी अँगुली) व अनामिका (तीसरी अँगुली) अँगुलियों से ढ़कना चाहिए।

अब बुद्धिमान साधक काकीमुद्रा (होठों को कौवे की चोंच के समान बनाकर) से प्राणवायु को अन्दर भरकर उसे अपान वायु में मिला दें। इसके बाद साधक **'हुं'** और **'हंस'** मन्त्रों के द्वारा अपने शरीर में स्थित षट्चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि व आज्ञा चक्र) पर ध्यान करते हुए उस सोई हुई भुजंगिनी अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने का काम करें और उस जीवंत शक्ति (कुण्डलिनी) को ऊपर की ओर उठाते हुए अपने अधीन करने का प्रयास करें। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर की ओर उठाने से साधक स्वयं को शक्तिमान मानकर परम शक्तिमान भगवान शिव के साथ संयोग करके अनेक प्रकार के सुखों के साथ निवास करते हुए परम आनन्द का अनुभव करता है।

साधक को शिव और शक्ति के मिलन से पृथ्वी पर ही एकान्त में रहते हुए स्वयं को ब्रह्मा का अंश मानते हुए या स्वयं को ही ब्रह्मा मानते हुए परमानन्द की भावना (अनुभूति) करनी चाहिए।

योनिमुद्रा को भी अन्य मुद्राओं की भाँति ही अत्यंत गोपनीय माना गया है। इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ (कठिनता से प्राप्त होने वाली) माना गया है। योनिमुद्रा में एक बार भी सिद्धि प्राप्त होने से साधक को समाधि अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष :- योनिमुद्रा के सम्बंध में पूछा जा सकता है कि योनिमुद्रा में किस एक अन्य मुद्रा की विधि का भी प्रयोग किया जाता है ? जिसका उत्तर है काकीमुद्रा। इसके अलावा यह भी पूछा जा सकता है कि योनिमुद्रा में किन मन्त्रों द्वारा चक्रों का ध्यान करने की बात कही गई है ? जिसका उत्तर है 'हुं और हंस' मन्त्रों द्वारा।

योनिमुद्रा का फल

ब्रह्महा भ्रूणहाचैव सुरापी गुरुतल्पग:। एतै: पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥43॥
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च। तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात्। तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ॥44॥

भावार्थ :- योनिमुद्रा का अभ्यास करने से साधक ब्रह्महत्या, गर्भपात, मदिरापान (शराब का सेवन करने वाला), गुरु की पत्नी के साथ सम्भोग आदि इन सभी पापों से मुक्त हो जाता है अर्थात् उसकी इन सभी पापों किसी भी प्रकार की लिप्तता (भागीदारी) नहीं रहती है।

इसके अतिरिक्त जो भी घोर पाप (घृणित या बड़े) या सामान्य श्रेणी के पाप होते हैं। योनिमुद्रा के अभ्यास से वह सभी पाप नष्ट (प्रभावहीन) हो जाते हैं। अतः मुक्ति

की इच्छा अथवा अभिलाषा रखने वाले साधक को योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में कहा गया है कि योनिमुद्रा का अभ्यास करने वाला साधक ऊपर वर्णित सभी घृणित व सामान्य पापों से मुक्त हो जाता है। इसके अर्थ को समझने में कुछ व्यक्ति गलती कर बैठते हैं। उनका मानना है कि किसी व्यक्ति ने पूर्व में ऊपर वर्णित पाप किये हों और यदि अब वह योनिमुद्रा का अभ्यास करता है तो वह उन सभी पापों से मुक्त हो जाएगा। लेकिन ऐसा बिलकुल भी नहीं है। जिस व्यक्ति ने जितने बुरे अथवा अच्छे कर्म किये हैं। उन सभी का फल उसको निश्चित रूप से मिलता है। यहाँ पर ग्रन्थकार का कहना है कि जो साधक नियमित रूप से योनिमुद्रा का अभ्यास करता है। वह ऊपर वर्णित पापों का भागीदार नहीं बनता है। वह उनसे सदा बचा रहता है। यहाँ पर पाप कर्मों से बचने की बात कही गई है न कि पाप कर्मों के फल से मुक्त होने की। जब साधक योनिमुद्रा के अभ्यास में अग्रसर रहता है तो वह इस प्रकार के घृणित कर्म करता ही नहीं है। वह सदैव इनसे दूर रहता है। तभी कहा गया है कि उसकी इन पाप कर्मों में किसी तरह की कोई लिप्तता नहीं होती।

अतः सभी विद्यार्थी इस श्लोक के इस वास्तविक अर्थ को समझने का प्रयास करें। साथ ही इसमें बताये गए सभी पाप कर्मों को भी याद करलें। यह परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी हैं।

वज्रोणि अथवा वज्रोली मुद्रा विधि

धरामवष्टभ्य करयोस्तालाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्यादयुगं शिर: खे। शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥45॥

भावार्थ :- दोनों हाथों को जमीन पर रखकर दोनों पैरों व सिर को ऊपर आकाश की ओर उठाएं। शक्ति को जगाने के लिए व दीर्घायु (लम्बी आयु) प्राप्त करने के लिए योगियों ने वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करने की बात कही है।

वज्रोली मुद्रा का फल

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारकम्। अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायक: ॥46॥

एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्। सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यतिभूतले ॥47॥

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्। तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम् ॥48॥

भावार्थ :- वज्रोली मुद्रा योग साधनाओं में श्रेष्ठ बताई गई है। इसके अभ्यास से योगियों को मुक्ति प्राप्त होती है। साथ ही यह मुद्रा योगियों के लिए हितकारी व सिद्धि प्रदान करने वाली है।

इस मुद्रा के अभ्यास से साधक को निश्चित रूप से वीर्य की सिद्धि प्राप्त होती है और वीर्य की सिद्धि प्राप्त होने से इस पृथ्वी पर कौन सा ऐसा कार्य है जिसे साधक पूरा नहीं कर सकता ? अर्थात् वीर्य की सिद्धि प्राप्त होने से साधक के लिए इस पृथ्वी पर कोई भी कार्य असम्भव नहीं है।

यदि विषय-भोगों में पड़ा हुआ व्यक्ति भी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है तो उसे भी निश्चित रूप से सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

विशेष :- वज्रोली मुद्रा से साधक को किस सिद्धि की प्राप्ति होती है ? जिसका उत्तर है वीर्य सिद्धि। यह उपयोगी प्रश्न हो सकता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा की भूमिका

मूलाधारे आत्मशक्ति: कुण्डली परदेवता। शयिता भुजगाकारा सार्द्ध त्रिवल यान्विता ॥49॥

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीव: पशुर्यथा। ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥50॥

उद्घाटयेत् कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात्। कुण्डलिन्या: प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥51॥

नाभिं संवेष्टय वस्त्रेण न च नग्नो बहिस्थित:। गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥52॥

भावार्थ :- मनुष्य शरीर के मूलाधार चक्र में सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में आत्मा की प्रमुख शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति साँप की भाँति साढ़े तीन लपेटे (जिस प्रकार साँप कुंडली मारकर बैठता है) लगाकर सोई हुई रहती है।

जब तक शरीर में कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई रहती है तब तक साधक पशु की भाँति बिना ज्ञान के ही घूमता रहता है। चाहे वह असंख्य योग साधनाओं का अभ्यास करले, लेकिन फिर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है।

जिस प्रकार ताला लगे हुए दरवाजे को हम चाबी के द्वारा बलपूर्वक खोल देते हैं। ठीक उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर हम ब्रह्मग्रन्थि का आसानी से भेदन कर सकते हैं अर्थात् ब्रह्मद्वार को खोल सकते हैं। शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करने के लिए साधक को अपनी नाभि प्रदेश के ऊपर वस्त्र लपेटना होता है। साधक को यह कार्य न ही तो बाहर खुले स्थान पर करना चाहिए और न ही पूरी तरह से नग्न अर्थात् नंगा होकर करना चाहिए। इसका अभ्यास पूरी तरह से गुप्त स्थान पर रहकर करना चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक के विषय में पूछा जा सकता है कि कुण्डलिनी का स्थान शरीर में कहा पर है ? जिसका उत्तर है मूलाधार चक्र में। इसके अलावा यह भी पूछा जा सकता है कि कुण्डलिनी शक्ति कितने वलयों अर्थात् लपेटों में लिपटी हुई है ? जिसका उत्तर है साढ़े तीन वलयों या लपेटों में। शक्तिचालन मुद्रा में वस्त्र को शरीर के किस अंग पर लपेटा जाता है ? उत्तर है नाभि प्रदेश के ऊपर। वस्त्र को लपेटते हुए अथवा मुद्रा का अभ्यास किस स्थान पर करना चाहिए ? उत्तर है गुप्त स्थान पर।

शक्तिचालिनी मुद्रा विधि वर्णन

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चुतुरङ्गुलम्। मृदुलं धवनं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरललक्षणम्। एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥53॥

भस्मना गात्रं संलिप्य सिद्धासनं समाचरेत्। नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात् ॥54॥

तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया। यावद् गच्छेत् सुषुम्णायां वायु: प्राकाशयेद्धठात् ॥55॥

तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी। बद्धश्वासस्ततो भूत्वा उर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥56॥

भावार्थ :- एक विता अर्थात् एक बिलात (लगभग नौ से बारह इंच लम्बा) लम्बा व चार अँगुल (लगभग तीन इंच) चौड़ाई वाला कोमल और सूक्ष्म अर्थात् बारीक सफेद कपड़े को नाभि के ऊपर लपेटने का चाहिए। यह वस्त्र के लक्षण (कोमल, बारीक, सफेद व उसकी लम्बाई-चौड़ाई आदि) बताये गए हैं। ऊपर वर्णित गुणों से

युक्त वस्त्र को ही साधक द्वारा अपनी कमर में बाँधना चाहिए।

इसके बाद साधक अपने शरीर पर भस्म (गोबर के उपले को जलाने के बाद बचने वाली राख को) लगाकर सिद्धासन का अभ्यास करना चाहिए। सिद्धासन लगाने के बाद दोनों नासिका छिद्रों से प्राणवायु को शरीर के अन्दर भरते हुए बलपूर्वक उसे अपान वायु के साथ संयुक्त करें अर्थात् मिलायें (प्राण व अपान को)।

अब साधक अश्वनी मुद्रा के द्वारा अपने गुदा प्रदेश व लिङ्ग को तब तक सिकोड़ते रहें। जब तक कि प्राण व अपान वायु दोनों बलपूर्वक सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके उसको प्रकाशित न करदे अर्थात् जब तक साधक को इस बात का ज्ञान न हो जाये कि वह प्राण व अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर चुकी हैं।

इसके बाद बाह्यकुम्भक का अभ्यास करते हुए प्राणवायु को बाहर ही रोकें। इससे कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर शरीर में ऊपर की ओर चढ़ने लगती है अर्थात् इससे कुण्डलिनी शक्ति उर्ध्वगामी हो जाती है।

विशेष :- इस श्लोक में दिए गए सभी लक्षण परीक्षा की दृष्टि से काफी उपयोगी हैं। जैसे – शक्तिचालन मुद्रा के लिए वस्त्र के लक्षण क्या होते हैं ? जिसका उत्तर है कोमल, बारीक, सफेद, एक बिता लम्बा व चार अँगुल चौड़ा कपड़ा। शक्तिचालन मुद्रा में किस आसन व किस अन्य मुद्रा का प्रयोग किया जाता है ? जिसका उत्तर है सिद्धासन व योनिमुद्रा।

शक्तिचालन मुद्रा से योनि मुद्रा की सिद्धि

विना शक्तिंचालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति। आदौ चालनमभयस्त योनिमुद्रां सम्भयसेत् ॥57॥

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्। गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने सम्भयसेत् ॥58॥

भावार्थ :- शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास किये बिना योनिमुद्रा को सिद्ध नहीं किया जा सकता अर्थात् बिना शक्तिचालन मुद्रा के योनिमुद्रा में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। इसलिए साधक को पहले शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। उसके बाद योनिमुद्रा को साधना चाहिए।

अब घेरण्ड ऋषि कहते हैं हे चन्डकापालि! यह शक्तिचालन मुद्रा का ज्ञान था जो मैंने तुम्हें बताया है। इसे अत्यंय गोपनीय रखते हुए प्रीतिदिन प्रयत्नपूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में बताया गया है कि योनिमुद्रा से पहले साधक को शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। शक्तिचालन मुद्रा के सिद्ध होने पर ही योनिमुद्रा सिद्ध होती है। यह भी याद रखने योग्य जानकारी है।

शक्तिचालन मुद्रा का फल

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी। तस्मादभ्यासनंकार्यं योगिभि: सिद्धिकाङ्क्षिभि: ॥59॥

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता। तस्य विग्रहसिद्धि: स्याद्रोगाणां सङ्क्षयो भवेत् ॥60॥

भावार्थ :- शक्तिचालन मुद्रा अत्यंत गोपनीय है। यह बुढ़ापे व मृत्यु का नाश करने वाली होती है। इसलिए जो साधक योग साधना में सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इसका अभ्यास करना चाहिए।

जो योगी साधक नित्य प्रति इस मुद्रा का अभ्यास करते हैं, सिद्धि सदा उनके हाथ में रहती है। साथ ही उनका अपने शरीर पर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है। इसके अलावा साधक के सभी रोगों का नाश भी हो जाता है।

तडागी मुद्रा विधि व फल वर्णन

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्। तडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥61॥

भावार्थ :- पश्चिमोत्तान आसन करके अपने उदर अर्थात् पेट को तालाब की आकृति के समान बना लेना तडागी मुद्रा कहलाती है। यह अति श्रेष्ठ मुद्रा बुढ़ापे (वृद्धावस्था) व मृत्यु का नाश करने वाली होती है।

विशेष :- इस मुद्रा के सम्बंध में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न एक ही हो सकता है कि तडागी शब्द का क्या अर्थ होता है या तडागी शब्द किसके लिए प्रयोग किया जाता है? जिसका उत्तर है तालाब। तडागी शब्द का अर्थ तालाब होता है। अपने पेट को तालाब की आकृति के समान बना लेने से ही इसे तडागी मुद्रा कहा जाता है।

माण्डूकी मुद्रा विधि वर्णन

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्। शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डूकीं मुद्रिकां विदु: ॥62॥

भावार्थ :- अपने मुहँ को बन्द करके अन्दर ही जीभ के मूलभाग को आगे-पीछे करते हुए उसका चालन करें और धीरे-धीरे चन्द्रमा से स्त्रावित (टपकने) होने वाले अमृत रस का पान करें अर्थात् उसे पीना चाहिए। विद्वानों ने इसे माण्डूकी मुद्रा कहा है।

माण्डूकी मुद्रा का फल

वलितं पलितं नैव जायते नित्य यौवनम्। न केशे जायते पाको य: कुर्यान्नित्यमाण्डूकीम् ॥63॥

भावार्थ :- जो साधक नित्य प्रति माण्डूकी मुद्रा का अभ्यास करता है, न तो उसकी त्वचा सिकुड़ती है (इकट्ठी होना) और न ही उसकी त्वचा पर कभी झुर्रियां पड़ती हैं। उसका यौवन सदा बना रहता है अर्थात् वह सदा जवान बना रहता है। साथ ही कभी भी उसके बाल सफेद नहीं होते है।

विशेष :- परीक्षा में इसके सम्बन्ध में पूछा जा सकता है कि किस मुद्रा के अभ्यास से साधक की त्वचा पर झुर्रियां नहीं पड़ती और न ही त्वचा सिकुड़ती है ? जिसका उत्तर है माण्डूकी मुद्रा। या यह भी पूछा जा सकता है कि वलित और पलित नामक लाभ किस मुद्रा से प्राप्त होते हैं ? उत्तर है माण्डूकी मुद्रा।

शाम्भवी मुद्रा विधि वर्णन

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्। सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥64॥

भावार्थ :- दोनों नेत्रों से अपनी दोनों भौहों के बीच में देखते हुए मन द्वारा आत्म चिन्तन करने को शाम्भवी मुद्रा कहा गया है। सभी शास्त्रों में इस मुद्रा को गुप्त बताया गया है।

शाम्भवी मुद्रा का फल

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव। इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥65॥
स एव आदिनाथश्च स च नारायण: स्वयम्। स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥66॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्ययुक्तं महेश्वर। शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्म न चान्यथा ॥67॥

भावार्थ :- सभी वेद, शास्त्र व पुराणों को शाम्भवी मुद्रा के सामने सामान्य गणिका (साधारण वेश्या) के समान माना है। जो सभी को आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं। जबकि शाम्भवी मुद्रा को अच्छे घर की बहु के समान गोपनीय माना जाता है।

जो साधक शाम्भवी मुद्रा को जानता है, वह आदिनाथ अर्थात् भगवान शिव है, वह स्वयं नारायण का रूप है और वही सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा के समान है।

हे महेश्वर! जो भी साधक इस शाम्भवी मुद्रा को जानता है वही साक्षात ब्रह्मा है, अन्यथा नहीं। यही पूर्ण रूप से सत्य और सत्य है।

विशेष :- इस मुद्रा के वर्णन में ग्रन्थकार ने वेद, शास्त्रो व पुराणों को सामान्य गणिका (वेश्या) के समान बताया है और शाम्भवी मुद्रा को कुलवधू अर्थात् अच्छे घर की बहु के समान बताया है। यहाँ पर गणिका शब्द का प्रयोग केवल उदाहरण स्वरूप किया गया है। इसका अर्थ है कि वेद, शास्त्र व पुराण तो कही भी उपलब्ध हो सकते हैं या वह समान्यतः कहीं पर भी सहज रूप से मिल जाते हैं। लेकिन शाम्भवी मुद्रा का ज्ञान देने वाले विरले (कुछ ही) ही मिलते हैं। जिस प्रकार अच्छे घर की बहु अपनी सभी क्रियाओं को गुप्त रखती है लेकिन वेश्या अपनी किसी भी क्रिया को गुप्त नहीं रखती है। उसके विषय में सबको पता होता है कि वह क्या कार्य करती है। इसलिए ऋषि घेरण्ड ने यहाँ पर वेश्या का उदाहरण दिया है।

यहाँ पर इस उदाहरण का वर्णन केवल कल्पना मात्र के लिए किया गया है। वास्तव में वेद, शास्त्र व पुराणों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस मुद्रा के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है कि किस मुद्रा को कुलवधू, अच्छे घर की बहु या फिर बड़े घर की बहु के समान कहा जाता है ? उत्तर है शाम्भवी मुद्रा।

4 चौथा अध्याय (प्रत्याहार वर्णन)

चौथे अध्याय में महर्षि घेरण्ड ने प्रत्याहार का वर्णन किया है। प्रत्याहार को इन्होंने योग के चौथे अंग के रूप में माना है। प्रत्याहार के पालन से साधक को धैर्य की प्राप्ति होती है अर्थात् धैर्य को प्रत्याहार का फल बताया गया है।

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम्। यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥1॥

भावार्थ :- इसके बाद (मुद्राओं के बाद) अब मैं प्रत्याहार के विषय में कहता हूँ। जिसके ज्ञान को जानने मात्र से ही (केवल जानने से ही) काम वासना आदि शत्रु नष्ट हो जाते हैं।

विशेष :- प्रत्याहार से काम वासना से सम्बंधित सभी विकार नष्ट हो जाते हैं।

यतो यतो मनश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥2॥

भावार्थ :- मन की चंचल प्रवृत्ति होने के कारण यह कहीं-कहीं घूमता रहता है। अतः यह चंचल मन जहाँ-जहाँ भी जाता है। उसे वहीं से रोककर सदा अपने वश में अर्थात् अपने नियंत्रण में रखना चाहिए।

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं भावमायकम्। मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥3॥

भावार्थ :- सम्मान हो या अपमान, कानों के लिए प्रशंसा (अच्छा) हो या निन्दा (बुरा), इन सभी से मन को हटाकर अपने नियंत्रण में रखना चाहिए।

विशेष :- सम्मान व अपमान और प्रशंसा व निन्दा दोनों ही अवस्थाओं में अपने को समान रखते हुए अपने मन को नियंत्रित करना चाहिए। इस श्लोक में कर्ण अर्थात् कान नामक इन्द्री के विषय को बताया गया है।

सुगन्धो वापि दुर्गन्धो घ्राणेषु जायते मन:। तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥4॥

भावार्थ :- सुगन्ध हो या दुर्गन्ध नासिका द्वारा दोनों को ही ग्रहण किया जाता है। सुगन्ध व दुर्गन्ध दोनों में ही मन स्वयं ही चला जाता है। अतः मन को वहाँ से हटाकर अपने नियंत्रण में रखना चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में नासिका नामक इन्द्री के विषय को बताया गया है।

मधुराम्लकतिक्तादिरसं गतं यदा मन:। तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥5॥

भावार्थ :- जब हमारा मन मीठे, खट्टे, तीखे आदि रसों में जाता है। तब उसे वहाँ से भी हटाकर अपने नियंत्रण में रखना चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में जिह्वा (जीभ) नामक इन्द्री के विषय को बताया गया है।

प्रत्याहार के इस पूरे अध्याय में मन को अपने नियंत्रण में रखने की ही बात कही गई है। यह घेरण्ड संहिता का सबसे छोटा अध्याय है। जिसमें कुल पाँच ही श्लोक हैं।

प्रत्याहार में मन को अपनी इन्द्रियों से विमुख करने का ही उपदेश दिया जाता है। यहाँ पर एक विशेष बात यह है कि इसमें केवल तीन इन्द्रियों (कान, नाक व जीभ) के ही विषयों से मन को हटाकर अपने नियंत्रण में रखने का उपदेश दिया गया है। जबकि कुल ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं। यहाँ पर त्वचा व आँख के विषय में चर्चा नहीं की गई है। यह विद्वानों के लिए चर्चा का विषय है। परीक्षा की दृष्टि से भी इस प्रकार का प्रश्न पूछा जा सकता है कि प्रत्याहार के प्रकरण में किन – किन ज्ञानेंद्रियों की चर्चा की गई है ? उत्तर है कान, नासिका व जीभ। इसके अलावा यह भी पूछा जा सकता है कि किस-किस ज्ञानेंद्रियों के विषयों की चर्चा नहीं की गई है ? उत्तर है त्वचा व आँख।

इति चतुर्थोपदेश: समाप्त: ॥

5 पाँचवा अध्याय (कुम्भक / प्राणायाम वर्णन)

पाँचवें अध्याय में मुख्य रूप से आठ प्रकार के प्राणायामों (कुम्भकों) की चर्चा की गई है। प्राणायाम का अभ्यास करने से साधक के शरीर में लघुता अर्थात् हल्कापन आता है। इस अध्याय में प्राणायाम के अतिरिक्त अन्य कई विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। जिनमें कुछ निम्न हैं – योग करने के लिए उपयुक्त स्थान, कुटिया के लक्षण, काल अर्थात् समय, मिताहार, पथ्य-अपथ्य आहार व नाड़ी शुद्धि आदि।

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिम्। यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नर: ॥1॥

भावार्थ :- इसके बाद (प्रत्याहार के बाद) अब प्राणायाम की जो विधि है, मैं उसका अच्छी प्रकार से वर्णन करूँगा। जिसकी साधना मात्र (केवल जिसके अभ्यास) से ही मनुष्य देवताओं के समान हो जाता है।

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम्। नाड़ीशुद्धिं तत: पश्चात् प्राणायामं च साधयेत् ॥2॥

भावार्थ :- साधक पहले स्थान तथा समय उसके बाद मिताहार और फिर नाड़ीशुद्धि को जानकर उनका पालन करे। उसके बाद ही उसे प्राणायाम की साधना का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक में प्राणायाम की साधना करने से पहले साधक को कुछ आवश्यक नियमों का पालन करना अनिवार्य बताया है। जिनको परीक्षा में भी पूछ लिया जाता है कि प्राणायाम की साधना से पूर्व साधक को किन-किन अंगों की साधना करनी चाहिए ? या प्राणायाम से पहले जिन तत्त्वों का अभ्यास आवश्यक होता है, उनका सही क्रम क्या है ? जिसका उत्तर है पहले साधना के लिए उपयुक्त स्थान का निर्णय फिर उपयुक्त समय का निर्णय। इसके बाद मिताहार का पालन और अन्त में साधक को नाड़ीशुद्धि का अभ्यास करना चाहिए। इसके बाद ही उसे प्राणायाम की साधना करनी चाहिए।

योग साधना के लिए वर्जित स्थान दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां जनान्तिके। योगारम्भं न कुर्वीत कृतश्चेत् सिद्धि न भवेत् ॥3॥

अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम्। लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात् त्रीणि विवर्जयेत् ॥4॥

भावार्थ :- साधक को निम्न स्थानों पर योग के अभ्यास को आरम्भ नहीं करना चाहिए :- कहीं दूर स्थान पर अर्थात् अपने घर से बहुत दूर, जंगल अथवा वन में, बड़े नगरों में अर्थात् भीड़ – भाड़ वाले स्थानों पर जहाँ पर बहुत अधिक लोग रहते हों। इन स्थानों पर योग करने से साधक को कभी भी योग में सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। दूर देश में अविश्वास का भाव रहता है, जंगल अथवा वन में सुरक्षा की चिन्ता होती है। भीड़-भाड़ वाले स्थान पर बहुत लोगों परिचय करना चाहेंगे। जिससे जनसङ्ग नामक बाधक तत्त्व बढ़ेगा। अतः साधक को कभी भी इन तीनों स्थानों पर योग साधना का अभ्यास नहीं करना चाहिए। यह योग साधना हेतु वर्जित स्थान माने गए हैं।

विशेष :- परीक्षा में इस श्लोक के विषय में पूछा जा सकता है कि साधक को किन-किन स्थानों पर योग के अभ्यास को प्रारम्भ नहीं करना चाहिए ? जिसका उत्तर है दूर देश में, जंगल अथवा वन में, भीड़-भाड़ वाले क्षेत्र में अर्थात् जहाँ पर बहुत अधिक लोग रहते हों।

योग करने हेतु उपयुक्त स्थान

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरूपद्रवे। कृत्वा कुटीरं तत्रैकं प्राचीरै: परिवेष्टितम् ॥5॥

वापीकूपतडागं च प्राचीरंमध्यवर्ति च। नात्युच्चं नीतिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम् ॥6॥

सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटीरं तत्रनिर्मितम्। एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत् ॥7॥

भावार्थ :- योग साधना के लिए उपयुक्त स्थान के विषय में बताते हुए कहा है कि योग साधक को योग साधना का अभ्यास निम्न स्थानों पर करना चाहिए :- जो स्थान धार्मिक हो अर्थात् जहाँ का राजा नीतिपूर्ण कार्य करता हो, जहाँ पर साधक को आसानी से भिक्षा (भोजन आदि) प्राप्त हो सके, जहाँ पर किसी प्रकार के उपद्रव न होते हो अर्थात् जहाँ पर हिंसक आन्दोलन आदि न होते हों। वहाँ पर एक छोटी कुटिया जो चारों तरफ से दीवार से घिरी हुई हो।

जहाँ पर पानी का कुँआ या तालाब हो, वहाँ की जो भूमि हो वह न तो अधिक ऊँची हो और न ही ज्यादा नीची हो अर्थात् समतल भूमि होनी चाहिए। कुटिया पूरी तरह से कीट-पतंगों (साँप, बिच्छु आदि) से बिलकुल रहित होनी चाहिए।

वह कुटिया अच्छी प्रकार से गोबर (गाय के गोबर से) लिपि होनी चाहिए। इस प्रकार से बने हुए गुप्त अथवा सुरक्षित स्थान पर ही साधक को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- परीक्षा में इससे सम्बंधित भी प्रश्न पूछे जा सकते हैं कि साधक को किस प्रकार के स्थान पर प्राणायाम अथवा योग साधना का अभ्यास करना चाहिए ? या योग साधक की कुटिया के क्या लक्षण होते हैं ? जिसका उत्तर है साधक की कुटिया धार्मिक स्थान पर, जहाँ भिक्षा आसानी से मिल सके, जो स्थान दंगो से रहित हो, कुटिया चारों तरफ से दीवार से घिरी हुई हो, अन्दर पानी का कुँआ या तालाब हो, भूमि समतल हो, कीट-पतंगों से रहित हो व अच्छी तरह से गोबर से लिपि हो।

योगाभ्यास के लिए वर्जित काल समय

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा। योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगाद: ॥8॥

भावार्थ :- साधक को हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में योग साधना का अभ्यास शुरू नहीं करना चाहिए। इन ऋतुओं में अभ्यास करने पर रोग होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

विशेष :- साधक को किन-किन ऋतुओं में योग के अभ्यास को प्रारम्भ नहीं करना चाहिए ? जिसका उत्तर है हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म व वर्षा ऋतुओं में। इसके अलावा यह भी पूछा जा सकता है कि कितनी ऋतुओं में योगाभ्यास वर्जित होता है ? जिसका उत्तर है चार।

योगाभ्यास के लिए उपयुक्त समय

वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्। तथायोगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥9॥

भावार्थ :- योग साधना के विषय में कहा गया है कि साधक को वसन्त व शरद ऋतु में योग साधना की शुरुआत करनी चाहिए। इस समय पर योग साधना की शुरुआत करने वाला योगी निश्चित रूप से रोग मुक्त व सिद्धि को प्राप्त करने वाला होता है।

विशेष :- किन-किन ऋतुओं में योग साधना को प्रारम्भ करना चाहिए ? उत्तर है वसन्त व शरद ऋतुओं में। वसन्त व शरद ऋतुओं में योग साधना प्रारम्भ करने से साधक को क्या लाभ मिलते हैं ? उत्तर है साधक रोग मुक्त व सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

ऋतुओं का मास (महीनों) से सम्बन्ध

चैत्रादिफाल्गुनान्ते च माघादि फाल्गुननान्तिके। द्वौ द्वौ मासौ ऋतुभागौ अनुभावश्चतुश्चतु: ॥10॥

भावार्थ :- चैत्र मास से फाल्गुन मास के अन्त तक (जिसमें माघ मास भी आता है) दो-दो महीनों में एक ऋतु का समय पूरा होता है और चार-चार महीनों तक उन ऋतुओं का प्रभाव रहता है।

विशेष :- दो महीने में एक ऋतु का समय बताया गया है। हमारे भारत देश में एक वर्ष में कुल छः ऋतुएँ होती हैं। इससे भी स्पष्ट है कि एक ऋतु का समय दो महीने तक होता है।

वसन्तश्चैत्र वैशाखौ ज्येष्ठाषाढ़ौ च ग्रीष्मकौ। वर्षा श्रावणभाद्राभ्यां शरदाश्विनकार्तिकौ। मार्गपौषौ च हेमन्त: शिशिरो माघ फल्गुनौ ॥11॥

भावार्थ :- चैत्र और वैशाख मास तक वसन्त ऋतु और ज्येष्ठ व आषाढ़ मास तक ग्रीष्म ऋतु होती है। श्रावण से भाद्रपद अर्थात् भादौ तक वर्षा ऋतु और आश्विन से कार्तिक मास तक शरद ऋतु अर्थात् सर्दी होती है। मार्गशीर्ष से पौष माह तक हेमन्त ऋतु और माघ से फाल्गुन मास तक शिशिर ऋतु होती है।

विशेष :- ऊपर वर्णित मास व ऋतु का सम्बन्ध परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी है। इसे अच्छे से याद करें। आसानी के लिए अन्त में डायग्राम की सुविधा भी दी जा रही है।

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतुनां च यथोदितम्। माघादिमाधवान्तेषु वसन्तानुभवश्चतु: ॥12॥

भावार्थ :- अब मैं जैसा ऋतुओं के विषय में अनुभव होता है, उसका उपदेश करूँगा। माघ मास से वैशाख मास के अन्त तक चार महीनों वसन्त ऋतु का अनुभव होता है।

विशेष :- माघ से वैशाख मास के अन्त तक किस ऋतु का प्रभाव होता है ? उत्तर है वसन्त ऋतु का।

चैत्रादि चाषाढान्तं च निदाघानुभवश्चतु:। आषाढादि चाश्विनान्तं प्रावृषानुभवश्चतु: ॥13॥

भावार्थ :- इसी प्रकार चैत्र मास से लेकर आषाढ़ मास में चार महीने तक ग्रीष्म ऋतु का प्रभाव रहता है तथा आषाढ़ से आश्विन मास में चार महीने तक वर्षा ऋतु रहती है।

विशेष :- चैत्र से आषाढ़ तक किस ऋतु का प्रभाव रहता है ? उत्तर है ग्रीष्म अर्थात् गर्मी का। आषाढ़ मास से आश्विन मास तक किस ऋतु का प्रभाव पड़ता है ? उत्तर है वर्षा ऋतु का।

भाद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदाऽनुभवश्चतु:। कार्तिकादिमाघमासान्तं हेमन्तानुभवश्चतु:। मार्गादिचतुरो मासान् शिशिरानुभवश्चतु: ॥14॥

भावार्थ :- भाद्रपद मास से मार्ग शीर्ष मास के अन्त तक चार महीने शरद ऋतु का प्रभाव रहता है, कार्तिक मास से माघ मास के अन्त तक चार महीने हेमन्त ऋतु का अनुभव होता है और मार्गशीर्ष मास से फाल्गुन मास तक चार महीने शिशिर ऋतु का प्रभाव रहता है।

विशेष :- परीक्षा की दृष्टि से ऊपर वर्णित मास व ऋतुओं का सम्बंध उपयोगी है।

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत्। तदा योगो भवेत् सिद्धो विनायासेन कथ्यते ॥15॥

भावार्थ :- साधक को योग साधना की शुरुआत वसन्त या शरद ऋतु में करनी चाहिए। ऐसा करने से बिना किसी विशेष प्रयास के ही साधक को योग में सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

विशेष :- किस – किस ऋतु में योगाभ्यास की शुरुआत करने से स्वयं ही सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है ? अथवा किस-किस ऋतु में योगाभ्यास शुरू करने से बिना किसी विशेष प्रयास के अपने आप ही सिद्धि की प्राप्ति होती है ? उत्तर है वसन्त व शरद ऋतु में।

मिताहार की उपयोगिता

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्। नानारोगो भवेत्तस्य किञ्चिद्योगो न सिद्धयति ॥16॥

भावार्थ :- जो साधक बिना मिताहार का पालन किये ही योगाभ्यास को शुरू कर देता है। उसे अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं साथ ही उसे योग में नाममात्र सिद्धि भी नहीं मिलती।

विशेष :- मिताहार का पालन किये बिना योग करने से क्या-क्या हानि होती हैं ? उत्तर है अनेक प्रकार के रोग व सिद्धि प्राप्त न होना।

ग्राह्यहार (ग्रहण अथवा खाने योग्य पदार्थ)

शाल्यन्नं यवपिण्डं वा गोधूमपिण्डकं तथा। मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुष वर्जितम् ॥17॥

पटोलं पनसं मानं कक्कोलं च शुकाशकम्। द्राढ़िका कर्कटीं रम्भां डुम्बरीं कण्टकण्टकम् ॥18॥

आमरम्भां बालरम्भां रम्भादण्डं च मूलकम्। वार्ताकी मूलकं ऋद्धिं योगी भक्षणमाचरेत् ॥19॥

बालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम्। पञ्चशाकं प्रशंसीयाद्वास्तूकं हिलमो चिकाम् ॥20॥

भावार्थ :- ग्राह्य अथवा हितकारी आहार :- हितकारी आहार में महर्षि घेरण्ड ने निम्न खाद्य पदार्थों को रखा है – चावल, जौ का आटा, गेहूँ का आटा, भूसा रहित मूँग, उड़द व चना आदि दालों को अच्छे से साफ करके।

परवल, कटहल, कंकोल, करेला, जिमींकंद, अरवी, ककड़ी, केला, गूलर, व चौलाई का शाक।

कच्चा केला या केले का डंठल और फूल, केले के बीच का भाग या दण्ड, केले की जड़, बैंगन, मूली आदि का योगी को सेवन करना चाहिए।

कच्चा शाक, मौसमी सब्जियाँ, परवल का शाक, बथुआ व हिमलोचिका अर्थात् हुरहुर की सब्जी आदि पाँच प्रकार के शाक को योगी हेतु प्रशंसनीय बताया गया है।

विशेष :- हितकारी आहार का अर्थ है जिन खाद्य पदार्थों को ग्रहण अथवा खाना चाहिए। ऐसा आहार जो योग साधना में सहायक हो, जो शीघ्रता से पचने वाले हों। ऊपर वर्णित सभी खाद्य पदार्थ परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी हैं।

मिताहार वर्णन

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धं उदरार्द्धविवर्जितम्। भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदु: ॥21॥

भावार्थ :- पूरी तरह से शुद्ध अर्थात् स्वच्छ, मधुर अर्थात् मीठा, स्निग्ध अर्थात् घी आदि से बना चिकना भोजन, आधा पेट अर्थात् भूख से आधा भोजन जो शरीर में रस

व प्रीति अर्थात् सुख को बढ़ाता है। उसे विद्वानों ने मिताहार कहा हैं।

विशेष :- मिताहार के सम्बंध में यही पूछा जाता है कि कौन-कौन से पदार्थों को मिताहार में शामिल किया गया है ? उत्तर है शुद्ध, मीठा, चिकना, भूख से आधा अथवा आधा पेट, रस व सुख को बढ़ाने वाला आहार।

पेट में भोजन, पानी व वायु की मात्रा वर्गीकरण

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्। उदरस्य तुरियांशं संरक्षेद्वायुचारणे॥22॥

भावार्थ :- पेट के आधे भाग अथवा हिस्से को अन्न से भरें, तीसरे हिस्से को जल से व चौथे हिस्से को वायु के आने-जाने के लिए खाली छोड़ देना चाहिए।

विशेष :- परीक्षा में पूछा जा सकता है कि पेट के कितने हिस्से को अन्न, जल व वायु के लिए सुरक्षित रखना चाहिए ? उत्तर है आधे हिस्से को अथवा दो हिस्सों को अन्न के लिए, तीसरे हिस्से को पानी व चौथे हिस्से को वायु के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

अग्राह्य आहार (वर्जित आहार)

कट्वम्लं लवणं तिक्तं भृष्टं च दधि तक्रकम्। शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा॥23॥

कुलत्थं मसूरं पाण्डुं कुष्माण्डं शाकदण्डकम्। तुम्बीकोलकपित्थं च कण्टबिल्वं पलाशकम्॥24॥

कदम्बं जम्बीरं निम्बं कलुचं लशुनं विषम्। कामरङ्गं प्रियालं च हिङ्गुशाल्मलीकेमुकम्। योगारम्भे वर्जयेत्पथ्यं स्त्रीवह्निसेवनम्॥25॥

नवनीतं घृतं क्षीरं गुड शक्रादि चैक्षवम्। पञ्चरम्भां नारिकेलं दाडिममसिवासरम्। द्राक्षां तु नवनीं धात्रीं रसमम्लंविवर्जितम्॥26॥

भावार्थ :- योगी साधक को निम्न खाद्य पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए :- कडुआ, खट्टा, नमकीन, तीखा, ज्यादा भुने हुए, दही व छाछ, विरेचक अथवा बुरे शाक, मादक द्रव्यव (शराब आदि), ताड़ का फल, लकुच। कुल्थी, मसूर दाल, प्याज, पेठा, दाण्डी का शाक, कड़वी घीया, वेर, कांटे वाली बेल पर पके हुए पलाश के फल-फूल। कदम्ब, जम्बीर नीम्बू, लकुच, लहसुन, किसी भी प्रकार का विष, कमरख, चिरौंजी, हींग, सेमर के फूल, गोभी, लम्बी यात्रा, स्त्री का सङ्ग और अग्नि के सेवन आदि योग के आरम्भ में वर्जित कहे गए हैं।

नया घी अर्थात् मक्खन, दूध, गुड़ व शक्कर आदि, पाँच प्रकार के केले के भाग, नारियल, अनार, सौंफ, मुनक्का, खट्टे रस से रहित आँवला व अम्ल रस वाले पदार्थों का सेवन वर्जित है।

योगी के लिए खाद्य (खाने योग्य) पदार्थ

एलाजातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बु जाम्बुलम्। हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत्॥27॥

लघुपाकं प्रियं स्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम्। मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥28॥

भावार्थ :- इलायची, लौंग, पका हुआ फालसा, जामुन, जाम्बुल (जामुन का मोटा रूप अर्थात् जमोया), हरड़ व खजूर आदि वस्तुओं का सेवन योगी को करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जल्दी पकने वाले पदार्थ, खाने में अच्छे लगने वाले, चिकने, शरीर की सभी धातुओं को पुष्ट करने वाले पदार्थ, मन को अच्छा लगने वाले योग्य खाद्य पदार्थों का ही सेवन योगी को करना चाहिए।

वर्जित खाद्य (न खाने अथवा त्यागने योग्य) पदार्थ

काठिन्यं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा। अतिशीतं चातिचोष्णं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत्॥29॥

भावार्थ :- देरी से पकने व पचने वाला, दूषित, सड़ा हुआ, ज्यादा गर्म, ज्यादा ठण्डा अथवा बासी भोजन का सेवन योगी को कभी नहीं करना चाहिए।

अन्य वर्जित (न करने योग्य) कार्य

प्रात: स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा। एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत्॥30॥

भावार्थ :- योगी द्वारा उन सभी कार्यों को नहीं करना चाहिए जिनके करने से शरीर को कष्ट होता हो। जिनमें प्रातः काल में स्नान, उपवास, एक ही समय भोजन करना, भोजन के बिना ही रहना व सायंकाल के बाद भोजन करना आदि सभी कार्यों को त्याग देना चाहिए।

प्राणायाम के आरम्भ काल में करने योग्य भोजन

एवं विधिविधानेन प्राणायामं समाचरेत्। आरम्भे प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यं नित्यभोजनम्। मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत्॥31॥

भावार्थ :- इस प्रकार योगी को पूरे विधि-विधान के साथ प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम के आरम्भिक समय में प्रतिदिन दूध और घी से युक्त आहार का सेवन करना चाहिए। इसके अलावा योगी को आरम्भ में दोपहर व सांय दो समय भोजन करना चाहिए।

नाड़ी शुद्धि वर्णन

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले। स्थलासने समासीन: प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुख:। नाड़ीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत्॥32॥

भावार्थ :- प्राणायाम का अभ्यास करने से पहले योगी को नाड़ीशुद्धि का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए उपयुक्त आसन (बैठने के स्थान) बताते हुए कहा है कि साधक को कुश से बने आसन पर, मृग (हिरण) के चमड़े से बने आसन पर, व्याघ्र (शेर) के चमड़े से बने आसन या फिर कम्बल को बिछाकर उसके ऊपर बैठकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके नाड़ीशुद्धि प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- इस श्लोक से सम्बंधित कुछ प्रश्न परीक्षा में पूछे जा सकते हैं। जैसे-प्राणायाम करते समय साधक को किस प्रकार के आसन पर बैठना चाहिए ? उत्तर है कुश, मृग (हिरण) के चमड़े की खाल पर, शेर की खाल के चमड़े पर और कम्बल पर। प्राणायाम करते समय साधक को किस दिशा की ओर मुख करके बैठना चाहिए ? उत्तर है पूर्व और उत्तर दिशा की ओर। या यह भी पूछा जा सकता है कि साधक को किस दिशा की ओर मुख करके प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए ? उत्तर है पश्चिम व दक्षिण दिशा की ओर।

नाड़ीशुद्धिं कथं कुर्यान्नाड़ीशुद्धिस्तु कीदृशी। तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि तद्वदस्व दयानिधे॥33॥

भावार्थ :- राजा चण्ड कापालिक महर्षि घेरण्ड को कहते हैं कि हे दयानिधे! यह नाड़ी शुद्धि क्या होता है ? और इस नाड़ी शुद्धि को कैसे किया जाता है ? यह सब मैं

आपसे सुनना चाहता हूँ। कृपा आप इसको बताएं।
मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव गच्छति। प्राणायाम: कथं सिध्येत्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत्। तस्मादादौ नाड़ीशुद्धिं प्राणायामं ततोऽभ्यसेत्॥34॥
भावार्थ :- जब साधक की नाड़ियों में मल (अवशिष्ट पदार्थ) भरा होता है तो उस समय प्राणवायु नाड़ियों के अन्दर नहीं पहुँच पाती है। प्राणवायु के अन्दर प्रवेश न कर पाने से प्राणायाम किस प्रकार सिद्ध हो सकता है अर्थात् साधक को प्राणायाम में सफलता कैसे मिलेगी ? और उसे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति भी कैसे होगी ? इसलिए सबसे पहले साधक को अपनी नाड़ियों की शुद्धि के लिए नाड़ीशुद्धि का अभ्यास करना चाहिए और उसके बाद प्राणायाम का अभ्यास ।
विशेष :- इससे सम्बंधित प्रश्न :- साधक को पहले नाड़ी शुद्धि का अभ्यास करना चाहिए या प्राणायाम का ? उत्तर है नाड़ीशुद्धि का। नाड़ियों में जमा मल को किसके द्वारा साफ अथवा शुद्ध किया जाता है ? उत्तर है नाड़ीशुद्धि द्वारा।
नाड़ीशुद्धिर्द्विधा प्रोक्ता समनुर्निर्मनुस्तथा। बीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनुं धौतकर्मणा॥35॥
भावार्थ :- यह नाड़ी शुद्धि की प्रक्रिया दो प्रकार से की जाती है। एक समनु तथा दूसरी निर्मनु। नाड़ी शुद्धि का अभ्यास बीजमन्त्र के साथ करने को समनु कहते हैं और बिना मन्त्र के अर्थात् धौतिकर्म के द्वारा करने को निर्मनु कहते हैं।
विशेष :- परीक्षा की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण श्लोक है। इसमें पूछा जा सकता है कि नाड़ी शुद्धि के कितने प्रकार कहे गए हैं ? उत्तर है दो (समनु व निर्मनु)। समनु को किस विधि से किया जाता है अथवा समनु विधि में किसका प्रयोग किया जाता है ? उत्तर है बीजमन्त्र का। निर्मनु में किस विधि का प्रयोग किया जाता है ? उत्तर है धौतिकर्म का।
धौतकर्म पुरा प्रोक्तं षट्कर्मसाधने यथा। श्रृणुष्व समनुं चण्ड! नाड़ीशुद्धिर्यथा भवेत्॥36॥
भावार्थ :- निर्मनु अर्थात् धौतिकर्म के द्वारा नाड़ी शुद्धि किस प्रकार की जाती है ? इसका वर्णन षट्कर्म के अध्याय में पहले ही किया जा चुका है। यहाँ पर समनु अर्थात् बीजमन्त्र के साथ नाड़ी शुद्धि किस प्रकार की जाती है ? इसका वर्णन सुनो।
उपविश्यासने योगी पद्मासनं समाचरेत्। गुर्वादिन्यासनं कुर्याद् यथैव गुरु भाषितम्। नाड़ीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायामविशुद्धये॥37॥
भावार्थ :- नाड़ीशुद्धि के लिए पहले साधक पद्मासन लगाकर बैठे। इसके बाद गुरुओं को प्रणाम करते हुए उनके द्वारा बताई गई विधि के अनुसार नाड़ी शुद्धि का अभ्यास करें ताकि उसके बाद प्राणायाम को अच्छी प्रकार से किया जा सके।

नाड़ी शुद्धि की विधि

वायुबीजं ततो ध्यात्वा धूम्रवर्णं सतेजसम्। चन्द्रेण पूरयेद्वायुं बीजै: षोडशकै: सुधी:॥38॥
चतु:षष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत्। द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत्॥39॥
भावार्थ :- बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वह धुएँ के जैसे रंग वाले तेजयुक्त वायु के बीजमन्त्र अर्थात् **'यँ'** का ध्यान करते हुए अपने चन्द्रनाड़ी अर्थात् बायीं नासिका से सोलह (16) बीजमंत्रो का जाप करते हुए प्राण को शरीर के अन्दर भरे।
इसके बाद उस अन्दर भरी हुई प्राणवायु को चौसठ (64) बीजमंत्रों का जाप करते हुए शरीर के अन्दर ही रोके रखें और अन्त में बत्तीस (32) बीजमंत्रों का जाप करते हुए उस प्राणवायु को सूर्यनाड़ी अर्थात् दायीं नासिका से बाहर निकाल दें।
नाभिमूलाद्वह्निमुत्थाप्य ध्यायेत्तेजोऽवनीयुतम्। वह्निबीजषोडशेन सूर्यानाड्या च पूरयेत्॥40॥
चतु:षष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत्। द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं शशिनाड्या च रेचयेत्॥41॥
भावार्थ :- नाभि के मूल अर्थात् नाभि के बीच में स्थित अग्नि तत्त्व को ऊपर की ओर उठाते हुए अग्नि तत्त्व के स्थान अर्थात् जहाँ पर मणिपुर चक्र स्थित होता है। वहाँ पर अग्नि के बीजमन्त्र **'रँ'** का ध्यान करते हुए सूर्यनाड़ी अर्थात् दायीं नासिका से सोलह बीजमन्त्रों का जाप करते हुए प्राणवायु को शरीर के अन्दर भरें। फिर उस प्राणवायु को चौसठ बीजमन्त्रों का जाप करते हुए शरीर के अन्दर ही रोके रखें। इसके बाद बत्तीस बीजमंत्रों का जाप करते हुए प्राणवायु को चन्द्रनाड़ी अर्थात् बायीं नासिका से बाहर निकाल दें।
विशेष :- नाड़ीशुद्धि की विधि को हम एक बार सरल तरीके से समझने का प्रयास करते हैं। नाड़ीशुद्धि करते हुए पहले बायीं नासिका से श्वास को सोलह बीजमंत्रों का जाप करते हुए अन्दर भरते हैं। फिर चौसठ बीजमंत्रों का जाप करते हुए उस प्राणवायु को शरीर के भीतर ही रोका जाता है। इसके बाद उस प्राणवायु को बत्तीस बीजमंत्रों का जाप करते हुए दायीं नासिका से बाहर निकाल दिया जाता है। यहाँ तक नाड़ी शुद्धि की आधी विधि होती है। इसके बाद इसी विधि को दायीं नासिका से शुरू करते हुए बायीं नासिका पर खत्म कर दिया जाता है।
इससे सम्बंधित अनेक प्रश्न बनते हैं। जैसे – नाड़ी शुद्धि करते हुए पहले किस नासिका से प्राणवायु को अन्दर भरा जाता है ? उत्तर है बायीं नासिका से। नाड़ीशुद्धि करते हुए अन्त में किस नासिका से प्राणवायु को बाहर छोड़ा जाता है ? उत्तर है बायीं नासिका से।
नाड़ीशुद्धि करते हुए प्राणवायु को अन्दर लेने, अन्दर रोकने व वापिस बाहर छोड़ने का क्या अनुपात होता है ? उत्तर है **16:64:32** (1:4:2)। इसे बीजमन्त्र के अनुसार 16:64:32 का अनुपात कहा जाता है और वैसे सामान्य रूप से उसे 1:4:2 का अनुपात कहा जाता है अर्थात् जितने समय तक प्राणवायु को अन्दर भरते हैं उससे चार गुणा समय तक उसे शरीर के अन्दर रोकना और उससे आधे समय में उसे बाहर निकाल देना।
इसके अतिरिक्त यह भी पूछा जा सकता है कि बायीं नासिका अर्थात् चन्द्रनाड़ी से श्वास अन्दर लेते हुए किस तत्त्व का ध्यान करना चाहिए ? उत्तर है वायु तत्त्व का। वायु तत्त्व का बीजमन्त्र क्या होता है ? उत्तर है **'यँ'।**
दायीं नासिका से अर्थात् सूर्यनाड़ी से श्वास को अन्दर भरते हुए किस तत्त्व का ध्यान करना चाहिए ? उत्तर है अग्नि तत्त्व का। अग्नि तत्त्व का बीजमन्त्र क्या होता है ? उत्तर है **'रँ'।**
नासाग्रे शशिधृग्बिम्बं ध्यात्वा ज्योत्स्नासमन्वितम्। ठं बीजंषोडशेनैव इडया पूरयेन्मरुत्॥42॥
चतु:षष्ट्या मात्रया च वं बीजेनैव धारयेत्। अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाड़ीधौतं विभावयेत्। लकारेण द्वात्रिंशेन दृढं भाव्यं विरेचयेत्॥43॥

भावार्थ :- नासिका के अग्रभाग अर्थात् अगले हिस्से पर चन्द्रिका (चाँदनी से युक्त) से युक्त चन्द्र तत्त्व का ध्यान करते हुए **'ठं'** बीजमन्त्र का सोलह बार मानसिक जप करते हुए इडा नाड़ी (बायीं नासिका) से श्वास को अन्दर भरें।

उसके बाद **'वं'** बीजमन्त्र का चौसठ बार मानसिक जप करते हुए उस प्राणवायु को शरीर के अन्दर ही रोके रखें और नाड़ी मण्डल में अमृत को निरन्तर धारण करने व उसके साथ ही नाड़ीधौति की भावना करनी चाहिए। इसके बाद बत्तीस बार **'लं'** बीजमन्त्र का मानसिक जप करते हुए प्राणवायु को पिङ्गला नाड़ी (दायीं नासिका) से बाहर निकाल दें।

एवं विधां नाड़ीशुद्धिं कृत्वा नाड़ी विशोधयेत्। दृढ़ो भूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत्॥44॥

भावार्थ :- इस प्रकार विधिपूर्वक नाड़ी शुद्धि का अभ्यास करके अपनी सभी नाड़ियों की भली प्रकार से शुद्धि करें। इसके बाद साधक को दृढ़ता पूर्वक आसन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :- साधक को प्राणायाम का अभ्यास किसके बाद करना चाहिए ? उत्तर है नाड़ी शुद्धि के बाद।

कुम्भक (प्राणायाम) वर्णन

सहित: सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भिका: ॥45॥

भावार्थ :- सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा व केवली ये आठ प्रकार के कुम्भक अर्थात् प्राणायाम कहे गए हैं।

विशेष :- इस श्लोक में घेरण्ड संहिता में वर्णित आठ प्रकार के प्राणायामों का वर्णन किया गया है।

परीक्षा में इनकी प्राणायामों के प्रकार, इनका क्रम आदि पूछा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी पूछा जा सकता है कि घेरण्ड संहिता में कितने प्राणायाम ऐसे हैं जिनका वर्णन हठ प्रदीपिका में नहीं किया गया है ? उत्तर है दो (सहित कुम्भक व केवली कुम्भक)।

सहित कुम्भक वर्णन

सहितो द्विविध: प्रोक्त: सगर्भश्चनिगर्भक:। सगर्भो बीजमुच्चार्य निगर्भो बीज वर्जित: ॥46॥

भावार्थ :- यह सहित कुम्भक दो प्रकार से किया जाता है। एक सगर्भ और दूसरा निगर्भ। सगर्भ कुम्भक को बीजमन्त्र के उच्चारण के साथ व निगर्भ को बिना बीजमन्त्र का उच्चारण करे किया जाता है।

विशेष :- परीक्षा में पूछा जा सकता है कि सहित कुम्भक के कितने प्रकार हैं ? उत्तर है दो (सगर्भ व निगर्भ)। कौन सा ऐसा प्राणायाम है जिसकी दो विधियाँ हैं या किस प्राणायाम के दो प्रकार कहे गए हैं ? उत्तर है सहित कुम्भक। किस प्राणायाम का अभ्यास करते हुए बीजमन्त्र का प्रयोग अथवा उच्चारण किया जाता है ? उत्तर है सगर्भ कुम्भक। सहित कुम्भक के किस अभ्यास में बीजमन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता ? उत्तर है निगर्भ।

सगर्भ प्राणायाम विधि वर्णन

प्राणायामं सगर्भं च प्रथमं कथयामि ते। सुखासने चोपविश्य प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुख:। ध्यायेद्विधिं रजोगुणं रक्तवर्णमवर्णकम्॥47॥

इडया पूरयेद्वायुं मात्रया षोडशै: सुधी:। पूरकान्ते कुम्भकाद्ये कर्तव्यस्तूड्डीयानक: ॥48॥

सत्त्वमयं हरिंध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम्। चतु:षष्टया च मात्रया कुम्भकेनैव धारयेत्॥49॥

तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकम्। द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद्विधिना: पुनः ॥50॥

भावार्थ :- अब मैं पहले सगर्भ प्राणायाम की विधि को कहता हूँ। पहले साधक को किसी भी सुखासन में बैठकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अपना मुख रखना चाहिए। इसके बाद उसे रजोगुण की प्रधानता वाले लाल रंग से युक्त **'अकार'** बीजमन्त्र का ध्यान करना चाहिए।

इसके बाद बुद्धिमान साधक उसका (अकार बीजमंत्र का) सोलह बार जप करते हुए इडा नाड़ी (बायीं नासिका) से प्राणवायु को शरीर के अन्दर भरें और श्वास को अन्दर भरने के बाद व उसे अन्दर ही रोकने से ठीक पहले उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

अब श्वास को अन्दर भरने के बाद सत्वगुण प्रधान विष्णु के काले रंग से युक्त **'उकार'** बीजमन्त्र का ध्यान करते हुए उसका चौसठ बार जप करते हुए उस प्राणवायु को शरीर के अन्दर ही रोके रखें।

इसके बाद पुनः तमोगुण प्रधान शिव और शुक्ल वर्ण से युक्त **'मकार'** बीजमन्त्र का ध्यान करते हुए उसका बत्तीस बार जप करते हुए उसे दूसरी (दायीं) नासिका से बाहर निकाल दें।

विशेष :- इस सगर्भ प्राणायाम से सम्बंधित कई प्रश्न बनते हैं। जैसे-सगर्भ प्राणयाम करते हुए पहले किस नाड़ी अथवा नासिका से श्वास को भरना चाहिए ? जिसका उत्तर है इडा नाड़ी अथवा बायीं नासिका से। कितनी बार तक मन्त्र का जप करते हुए प्राण को अन्दर भरना चाहिए ? उत्तर है सोलह बार तक। प्राणवायु को अन्दर भरते हुए किस बीजमन्त्र का ध्यान करना चाहिए ? उत्तर है अकार बीजमन्त्र का।

प्राणवायु को कितने बीजमन्त्र का जप करते हुए अन्दर ही रोकना चाहिए ? उत्तर है चौसठ तक। कुम्भक के समय किस बीजमन्त्र का ध्यान करना चाहिए ? उत्तर है उकार का।

प्राणवायु को दायीं नासिका से छोड़ते हुए कितने बीजमंत्रों का जप करना चाहिए व किस बीजमन्त्र का जप करना चाहिए ? उत्तर है बत्तीस बार मकार का।

उड्डीयान बन्ध का अभ्यास कब-कब करना चाहिए ? उत्तर है प्राण को अन्दर भरने के बाद व अन्दर ही रोकने से ठीक पहले।

सगर्भ प्राणायाम की पूरक विधि

पुनः पिङ्गलयापूर्य कुम्भकेनैव धारयेत्। इडया रेचयेत् पश्चात् तद् बीजेन क्रमेण तु॥51॥

भावार्थ :- अब इसके बाद फिर पहले जैसे ही क्रम अथवा प्रकार से (जिस प्रकार बायीं नासिका से किया गया था) किया गया था। ठीक उसी प्रकार दायीं नासिका से प्राणवायु को सोलह बीजमन्त्र का उच्चारण करते हुए शरीर के अन्दर भरें व चौसठ बार बीजमन्त्र का जप करते हुए उसे शरीर के अन्दर ही रोके रखें। इसके बाद उसी प्रकार बायीं नासिका से उस प्राणवायु को बत्तीस बीजमंत्र का जप करते हुए बाहर निकाल देना चाहिए।

प्राणायाम के समय किन-किन अँगुलियों का प्रयोग करें ?

अनुलोमविलोमेन वारं वारं च साधयेत्। पूरकान्ते कुम्भकांते धृतनासापुटद्वयम्। कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठै: तर्जनीमध्यमे विना ॥52॥

भावार्थ :- अनुलोम – विलोम अर्थात् बायीं और दायीं नासिका से इस श्वसन प्रक्रिया को बार-बार करना चाहिए। ऐसा करते हुए प्राण को शरीर में भरते हुए व शरीर से बाहर निकालते हुए नासिका के दोनों ओर कनिष्ठा, अनामिका (सबसे छोटी, तीसरी) अँगुलियों व अँगूठे का ही प्रयोग करें। तर्जनी व मध्यमा (पहली व दूसरी) अँगुलियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

विशेष :- परीक्षा की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण प्रश्न बनता है कि प्राणायाम साधना के दौरान किन-किन अँगुलियों का प्रयोग करना चाहिए ? जिसका उत्तर है कनिष्ठा (सबसे छोटी) व अनामिका (तीसरी या रिंग फिंगर) व अँगूठे का ही प्रयोग करना चाहिए। या यह भी पूछा जा सकता है कि अनुलोम-विलोम साधना2 करते हुए किन-किन अँगुलियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए ? जिसका उत्तर है तर्जनी (पहली) व मध्यमा (दूसरी अथवा सबसे बड़ी) अँगुलियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

निगर्भ प्राणायाम वर्णन

प्राणायामो निगर्भस्तु विना बीजेन जायते। एकादिशतपर्यन्तं पूरककुम्भकरेचनम्॥53॥

भावार्थ :- निगर्भ प्राणायाम को बिना बीजमन्त्र के ही किया जाता है। साधक को पूरक (श्वास को अन्दर भरना), कुम्भक (प्राण को अन्दर ही रोके रखना) और रेचक (प्राण को बाहर निकालना) क्रियाओं को एक से सौ बार (100) तक बिना बीजमन्त्र के करना चाहिए।

विशेष :- निगर्भ प्राणायाम करते हुए पूरक, कुम्भक व रेचक क्रियाओं को कितनी बार करना चाहिए ? उत्तर है एक सौ बार (100)

प्राणायाम की उत्तम, मध्यम व निकृष्ट अवस्थाएँ

उत्तमा विंशतिर्मात्रा षोडशी मात्रा मध्यमा। अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधा स्मृता: ॥54॥

भावार्थ :- गुणवत्ता के आधार पर प्राणायाम के तीन विभाग बनाये गए हैं। जिनमें बीस मात्रा वाले प्राणायाम को उत्तम अर्थात् सबसे अच्छा माना जाता है। सोलह मात्रा वाले प्राणायाम को मध्यम अर्थात् बीच वाला माना जाता है और बारह मात्रा वाले प्राणायाम को अधम अर्थात् निकृष्ट या कम अच्छा माना जाता है।

विशेष :- यहाँ पर मात्रा का अर्थ प्राणायाम करते हुए किये गए समय होता है। प्राणायाम में पूरक, कुम्भक व रेचक का सामान्य अनुपात 1: 4: 2 होता है। जिसमें एक का अर्थ है श्वास को अन्दर भरने में जितना समय लगता है वह एक अनुपात कहलाता है। दूसरा कुम्भक होता है चार अनुपात अर्थात् जितने समय प्राण को अन्दर भरते हुए लगा है उससे चार गुणा अधिक समय तक उसे शरीर के अन्दर ही रोके रखना। उसके बाद तीसरा होता है रेचक जिसका अनुपात दो होता है। जिसका अर्थ है जितने समय में प्राण को अन्दर भरा था, उससे दुगने समय तक उसे बाहर निकालना।

अब यहाँ पर कही गई मात्रा को समझते हैं। इसमें बीस मात्रा को उत्तम माना गया है। बीस मात्रा वाले प्राणायाम का अर्थ होता है बीस बीजमन्त्र तक प्राण को अन्दर भरना फिर उसे अस्सी मात्रा अर्थात् बीजमन्त्र का जप करते हुए अन्दर ही रोके रखना और फिर चालीस मात्रा अर्थात् चालीस बीजमंत्रों तक उसे बाहर निकालना। इसे हम और भी आसान तरीके से समझ सकते हैं। जब प्राणवायु को अन्दर भरते हुए हम बीस सैकेंड लगाते हैं और उसे अस्सी सैकेंड तक अन्दर ही रोके रखते हैं फिर उसके बाद चालीस सैकेंड तक उस प्राणवायु को बाहर छोड़ने में लगाते हैं। यह बीस मात्रा (20: 80: 40) वाला प्राणायाम हुआ। जिसे सबसे उत्तम माना जाता है। इसके बाद इसी प्रकार सोलह मात्रा वाले को बीच वाला (16: 64: 32) व बारह मात्रा (12: 48: 24) वाले को अधम या निकृष्ट माना जाता है।

परीक्षा की दृष्टि से यह बहुत उपयोगी श्लोक है।

उत्तम, मध्यम व निकृष्ट अवस्था के लक्षण

अधमाज्जायते धर्मो मेरुकंपं च मध्यमात्। उत्तमाच्च भूमित्यागस्त्रिविधंसिद्धिलक्षणम्॥55॥

भावार्थ :- अधम प्रकार का प्राणायाम करने से शरीर में गर्मी बढ़ती है जिससे पसीना उत्पन्न होता है। मध्यम प्रकार का प्राणायाम से मेरुदण्ड अर्थात् रीढ़ की हड्डी में कम्पन उत्पन्न होने लगती है और उत्तम प्रकार का प्राणायाम करने से साधक का शरीर जमीन से ऊपर उठने लगता है। इस प्रकार यह तीन प्रकार के साधकों की सिद्धि के अलग-अलग लक्षण होते हैं।

विशेष :- इससे सम्बंधित प्रश्नों में पूछा जा सकता है कि उत्तम प्रकार का प्राणायाम करने से साधक में किस प्रकार का लक्षण प्रकट होता है ? उत्तर है जमीन से ऊपर उठने का अर्थात् भूमि त्याग करने का। मध्यम श्रेणी के साधक में किस प्रकार का लक्षण दिखाई देता है ? उत्तर है मेरुदण्ड में कम्पन का। अधम प्रकार के साधक का क्या लक्षण होता है ? उत्तर है ज्यादा पसीना आना।

सहित प्राणायाम के लाभ

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामाद् रोगनाशनम्। प्राणायामाद् बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी। आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्॥56॥

भावार्थ :- प्राणायाम साधना करने से साधक को आकाश में विचरण अर्थात् घूमने की शक्ति की प्राप्ति होती है, उससे सभी रोग समाप्त होते हैं, कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है, समाधि की सिद्धि होती है, चित्त में विशेष प्रकार का सुख अथवा आनन्द का अनुभव होता है इसके अतिरिक्त प्राणायाम करने वाला साधक सदा सुखी रहता है।

विशेष :- ऊपर वर्णित सभी लाभ महत्वपूर्ण हैं। विद्यार्थी इन्हें याद रखें।

सूर्यभेदी प्राणायाम वर्णन

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं श्रृणु। पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत्॥57॥

धारयेद् बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरै:। यावत् स्वेदं नखकेशाभ्यां तावत्कुर्वतु कुम्भकम्॥58॥

भावार्थ :- सहित कुम्भक का वर्णन किया जा चुका है। अब सूर्यभेदी प्राणायाम को सुनो – अपनी दायीं नासिका से बाहर की वायु को जितना सम्भव हो सके उतना भर लें।

अब उस अन्दर भरी हुई वायु को जालन्धर बन्ध लगाकर तब तक अन्दर ही रोके रखें जब तक कि नाखूनों से लेकर सिर के बालों तक पसीना नहीं आ जाता।

विशेष :- सूर्यभेदी प्राणायाम करते हुए कितनी देर तक श्वास को अन्दर रोकना चाहिए ? उत्तर है जब तक कि नाखूनों से लेकर सिर के बालों तक पसीना नहीं आ जाता तब तक।
सूर्यभेदी प्राणायाम शरीर में ऊष्मा अर्थात् गर्मी को बढ़ाता है। इसलिए जिनको उच्च रक्तचाप (बी०पी० हाई) व नकसीर (नाक से खून बहना) आदि समस्या रहती हों उनको इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। साथ ही गर्मी के मौसम में भी इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

पाँच प्राण व पाँच उपप्राण वर्णन

प्राणोऽपान: समानश्चोदानव्यानौ तथैव च। नाग: कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जय: ॥59॥

भावार्थ :- प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान ये पाँच प्राण होते हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय ये पाँच उपप्राण होते हैं।

विशेष :- प्राण कितने प्रकार के होते हैं ? उत्तर है पाँच। उपप्रानों की संख्या कितनी होती है ? उत्तर है पाँच। प्राणों को उनकी शरीर में स्थिति के अनुसार आरोही क्रम (बढ़ते क्रम अथवा नीचे से ऊपर की ओर) में व्यवस्थित करें – जिसका उत्तर है व्यान, अपान, समान, प्राण व उदान। प्राणों को शरीर में उनकी स्थिति के अनुसार अवरोही क्रम (ऊपर से नीचे) में रखें – जिसका उत्तर है उदान, प्राण, समान, अपान व व्यान।
प्राणों का सामान्य क्रम क्या होता है ? उत्तर है प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान।

प्राणों का उपप्राणों से सम्बंध :-

प्राण का उपप्राण क्या होता है ? उत्तर नाग। अपान प्राण का उपप्राण क्या होता है ? उत्तर कूर्म। समान प्राण का उपप्राण क्या है ? उत्तर कृकल। उदान प्राण का उपप्राण कौन सा है ? उत्तर देवदत्त। व्यान प्राण का उपप्राण क्या है ? उत्तर धनञ्जय।
कौन सा प्राण शरीर में कहाँ पर स्थित है ?
हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदामण्डले। समानो नाभिदेशे तु उदान: कण्ठमध्यग: ॥60॥
व्यानो व्याप्त शरीरे तु प्रधाना: पञ्च वायव:। प्राणाद्या: पञ्च विख्याता नागाद्या: पञ्च वायव: ॥61॥

भावार्थ :- प्राण हृदय प्रदेश में, अपान गुदा प्रदेश में, समान नाभि प्रदेश में, उदान कण्ठ प्रदेश में व व्यान सम्पूर्ण शरीर में गमन अथवा स्थित होता है।
इनमें से पाँच प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान मुख्य होते हैं और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय उपप्राण गौण होते हैं।

विशेष :- प्राण शरीर के किस भाग में होता है ? उत्तर है हृदय प्रदेश में। अपान प्राण का स्थान कहाँ पर है ? उत्तर है गुदा प्रदेश। समान प्राण का स्थान कहाँ पर होता है ? उत्तर नाभि प्रदेश में। उदान प्राण कहा स्थित है ? उत्तर है कण्ठ अथवा गले में। व्यान प्राण की स्थिति बताइये ? उत्तर है सम्पूर्ण शरीर में।
दस प्राणों में किन्हें मुख्य प्राण माना जाता है ? उत्तर है पञ्च प्राणों (प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान) को। उपप्राणों को अन्य किस नाम से जाना जाता है ? उत्तर है गौण प्राण के नाम से।
पाँच उपप्राणों का शरीर में क्या-क्या कार्य होते हैं ?
तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम्। उद्गारे नाग आख्यात: कूर्मस्तून्मीलने स्मृत: ॥62॥
कृकल: क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनञ्जय: ॥63॥

भावार्थ :- अब जो पाँच प्रकार के उपप्राण हैं उनके शरीर में स्थिति का वर्णन करता हूँ। डकार में नाग वायु, आँखों के खुलने व बन्द होने में कूर्म वायु, छीकनें में कृकल वायु, जम्भाई लेने में देवदत्त वायु व जो मरने के भी कुछ समय तक शरीर में ही स्थित रहती है वह धनञ्जय नामक वायु होती है।

विशेष :- डकार किस प्राण के कारण आती है ? उत्तर नाग। आँखों को खोलने व बन्द करने में किस प्राण का योगदान होता है ? उत्तर कूर्म। कृकल वायु का क्या कार्य होता है ? उत्तर छीकने का। देवदत्त प्राण का क्या कार्य होता है ? जम्भाई लेना। वो कौन सी वायु अथवा प्राण है जो मरने के बाद भी कुछ समय तक शरीर में ही रहता है ? उत्तर धनञ्जय।

उपप्राणों के शरीर में कार्य

नागो गृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणम्। क्षुत्तुषं कृकलश्चैव जृम्भणं चतुर्थेन तु। भवेद्धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न नि:सरेत् ॥64॥

भावार्थ :- नाग नामक वायु अथवा प्राण चेतना को ग्रहण करती है, कूर्म वायु से खोलने व बन्द करने का कार्य सम्पन्न होता है। भूख-प्यास का अनुभव कृकल वायु से, जम्भाई लेने का कार्य देवदत्त से होता है व धनञ्जय वायु कभी भी शरीर को एक पल के लिए भी नहीं छोड़ता।

विशेष :- चेतना का अनुभव किस वायु या प्राण द्वारा होता है ? उत्तर है नाग द्वारा। पलकों को खोलने व बन्द करने का कार्य किसके द्वारा सम्पादित किया जाता है ? उत्तर है कूर्म द्वारा। भूख व प्यास को कौन सा प्राण प्रेरित करता है ? उत्तर है कृकल। जम्भाई में कौन सी वायु कार्य करती है ? उत्तर है देवदत्त वायु। कौन सी वायु शरीर को एक पल के लिए भी नहीं छोड़ती ? उत्तर है धनञ्जय वायु।

सूर्यभेदी प्राणायाम की पूर्णता

सर्वे ते सूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत्। इडया रेचयेत् पश्चाद् धैर्येणाखण्डवेगत: ॥65॥

भावार्थ :- उन सभी (प्राण व उपप्राणों) को सूर्यभेदी प्राणायाम द्वारा नाभि से ऊपर उठाकर उनको धैर्य के साथ बायीं नासिका से वेगपूर्वक बाहर निकाल देना चाहिए।

दोबारा अभ्यास

पुन: सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि। रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुन: पुन: ॥66॥

भावार्थ :- इसके बाद फिर से दायीं नासिका से वायु को अन्दर भरकर उसे उसी विधि के अनुसार अन्दर ही रोकते हुए बाहर निकाल दें। इस प्रकार साधक को इस सूर्यभेदी प्राणायाम का बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

सूर्यभेदी प्राणायाम के लाभ

कुम्भक: सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशक:। बोधयेत् कुण्डलीशक्तिं देहानलं विवर्धयेत्। इति ते कथितं चण्ड सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥67॥

भावार्थ :- सूर्यभेदी प्राणायाम के अभ्यास से साधक बुढ़ापे व मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है व जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

हे चन्डकापालिक! इस प्रकार सूर्यभेदी नामक उत्तम प्राणायाम का वर्णन मैंने तुम्हारे सामने किया।

विशेष :- सभी लाभ परीक्षा के लिए उपयोगी है।

उज्जायी प्राणायाम विधि वर्णन

नासाभ्यां वायुमाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्। हृद्गलाभ्यां समाकृष्य वायुं वक्रे च धारयेत् ॥68॥

मुखं प्रक्षाल्य सवन्द्य कुर्याज्जालन्धरं ततः। आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधातः ॥69॥

भावार्थ :- हृदय प्रदेश व गले का संकोच (सिकोड़ते) करते हुए दोनों नासिकाओं से वायु को अन्दर भरके उसे मुख के बीच में ही धारण (ग्रहण) करले। इसके बाद मुख में स्थित वायु को बाहर निकाल कर, दोबारा से वायु को अन्दर भरकर जालन्धर बन्ध लगायें और वायु को बिना किसी विशेष प्रयास के कुछ समय तक ही अन्दर रोकें।

विशेष :- उज्जायी प्राणायाम का सकारात्मक प्रभाव हमारी थायरॉइड ग्रन्थि पर पड़ता है। इसके विषय में बहुत बार पूछा जाता है कि ताप उत्पन्न करने वाला कौन सा प्राणायाम होता है ? जिसका उत्तर है उज्जायी प्राणायाम।

उज्जायी प्राणायाम के लाभ

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्। न भवेत् कफरोगश्च क्रूरवायुरजीर्णकम् ॥70॥

आमवातः क्षयः कासो ज्वरप्लीहा न विद्यते। जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः ॥71॥

भावार्थ :- उज्जायी प्राणायाम करने के बाद साधक को सभी कार्य सिद्ध करने चाहिए। इसके अभ्यास से उसे कफरोग, अपान वायु के दूषित होने से होने वाले रोग, अजीर्ण अर्थात् अपच, आमवात, क्षय (टीबी आदि), खाँसी, ज्वर व प्लीहा (शरीर से धातुओं का स्राव) आदि रोगों का नाश होता है। साथ ही उज्जायी बुढ़ापे व मृत्यु का भी नाश करता है। अतः साधक को उज्जायी प्राणायाम की साधना करनी चाहिए।

विशेष :- परीक्षा में इन सभी लाभों के विषय में भी पूछा जा सकता है।

शीतली प्राणायाम विधि

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः। क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः ॥72॥

भावार्थ :- जीभ से वायु को धीरे-धीरे खींचते हुए पूरे पेट को वायु से भरे लें। इसके बाद कुछ पल के लिए उस वायु को अन्दर रोकने के बाद नासिका के दोनों छिद्रों से उसको बाहर निकाल दें।

विशेष :- यहाँ पर जीभ से वायु को अन्दर भरने का तात्पर्य है कि वायु हमारी जीभ के साथ स्पर्श करती हुई शरीर के भीतर प्रवेश करे। इसमें पूछा जा सकता है कि शीतली प्राणायाम करते हुए किस अंग द्वारा वायु को अन्दर भरा अथवा खींचा जाता है ? जिसका उत्तर है जीभ द्वारा। शीतली प्राणायाम में वायु का रेचन अथवा निष्कासन किस नासिका से किया जाता है ? उत्तर है दोनों नासिकाओं द्वारा।

शीतली प्राणायाम शीतलता को बढ़ाने वाला होता है। जिन व्यक्तियों का बी०पी० कम (निम्न रक्तचाप) रहता हो उनको व सर्दी में इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

शीतली प्राणायाम के लाभ

सर्वदा साधयेद्योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्। अजीर्णं कफपित्तञ्च नैव तस्य प्रजायते ॥73॥

भावार्थ :- जो योगी सदा अथवा प्रतिदिन शीतली प्राणायाम की साधना करता है, उसके लिए यह प्राणायाम मंगलकारी अथवा कल्याणकारी होता है। इससे साधक को अजीर्ण अर्थात् अपच, कफ व पित्त से सम्बंधित रोग कभी नहीं होते हैं।

भस्त्रिका प्राणायाम विधि

भस्त्रैव लोहकालाणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्। तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ॥74॥

एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्। तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ॥75॥

भावार्थ :- जिस प्रकार लोहार की धौकनी बिना रुकें निरन्तर चलती हुई वायु को अन्दर और बाहर लेती व छोड़ती रहती है। ठीक उसी प्रकार साधक को नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे लेना व छोड़ना चाहिए।

इस विधि को लगातार बीस बार करने के बाद कुछ समय तक वायु को अन्दर ही रोककर कुम्भक करना चाहिए। इसके बाद अर्थात् कुम्भक करने के बाद फिर से पहले वाली विधि से ही वायु को लेना व छोड़ना चाहिए।

विशेष :- लोहार की धौकनी की भाँति किस प्राणायाम की क्रिया होती है ? उत्तर है भस्त्रिका प्राणायाम की। भस्त्रिका प्राणायाम में कितने अभ्यास के बाद कुम्भक करना चाहिए ? बीस बार के अभ्यास के बाद।

भस्त्रिका प्राणायाम ऊष्मा अर्थात् गर्मी बढ़ाने वाला होता है। अतः जिनका बी०पी० हाई (उच्च रक्तचाप) रहता हो या किसी को नकसीर (नाक से खून बहना) आती हो उसे इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

भस्त्रिका प्राणायाम के लाभ

त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः। न च रोगो न क्लेशश्च आरोग्यं च दिने दिने ॥76॥

भावार्थ :- बुद्धिमान साधकों को इस भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास तीन बार करना चाहिए। ऐसा करने से साधक सभी रोगों व क्लेशों से दूर रहता है और उसे दिन-प्रतिदिन आरोग्यता अर्थात् उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

विशेष :- बुद्धिमान साधकों को भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास दिन में कितनी बार करना चाहिए ? उत्तर है तीन बार। किस प्राणायाम का अभ्यास करने से साधक के क्लेशों का भी नाश हो जाता है या क्लेश दूर हो जाते हैं ? उत्तर है भस्त्रिका प्राणायाम।

भ्रामरी प्राणायाम वर्णन

अर्धरात्रे गते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते। कर्णौपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरककुम्भकम् ॥77॥

भावार्थ :- योगी को आधी रात के बाद अर्थात् रात्रि के तीसरे पहर में जब सभी जीव- जंतुओं की आवाज आना पूरी तरह बन्द हो जाती हैं। तब दोनों हाथों से अपने दोनों कानों को बन्द करके श्वास को अन्दर भरे और इसके बाद कुछ समय तक कुम्भक अर्थात् उसे अन्दर ही रोके रखे।

विशेष :- किस प्राणायाम का अभ्यास आधी रात के बाद करना चाहिए ? उत्तर है भ्रामरी प्राणायाम। भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास आधी रात के बाद ही क्यों करना चाहिए ? उत्तर है उस समय सभी जीव-जंतुओं की आवाज आना बन्द हो जाती है। जिससे योगी का आसानी से ध्यान लग जाता है।

भ्रामरी प्राणायाम की सिद्धि के लक्षण

श्रृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्। प्रथमं झिञ्झीनादं च वंशीनादं ततः परम् ॥78॥

भावार्थ :- भ्रामरी प्राणायाम के समय योगी अपने दायें कान से शुभ नाद (मंगलकारी ध्वनि) को सुने। इसमें उसे पहले झींगुरों की ध्वनि व उसके बाद वंशी (बासुंरी) की ध्वनि सुनाई देती है।

मेघझर्झरभ्रमरी घण्टाकांस्यं ततः परम्। तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुन्दुभिः ॥79॥

भावार्थ :- उसके बाद उसे मेघ अर्थात् बादलों के बरसने की ध्वनि, भँवरे की ध्वनि, कांसे के घण्टे के जैसी ध्वनि, तुरी (तुरई) भेरी, मृदङ्ग आदि नाद व उसके बाद तासे और नगाड़ों की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

विशेष :- सबसे पहले किस कान से नाद सुनाई देता है ? उत्तर है दाहिने कान से। सबसे पहले कौन सा नाद सुनाई पड़ता है ? उत्तर है झींगुरों का। इसके अलावा इन सभी नादों के विषय में पूछा जा सकता है।

एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यासात्। अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ॥80॥

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योति ज्योतिरन्तर्गतं मनः । तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्। एवं च भ्रामरीसिद्धिः समाधि सिद्धि माप्नुयात् ॥81॥

भावार्थ :- इस प्रकार साधक को प्रतिदिन इसका अभ्यास करने पर अनेक प्रकार के नाद सुनाई देते हैं। यह नाद उसे अनाहत अर्थात् बिना किसी व्यवधान के सुनाई देते हैं और उनसे उत्पन्न शब्द की जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के अन्तर्गत (अधीन) ज्योति होती है और उसी ज्योति के अन्तर्गत हमारा मन होता है।

यदि हमारा मन उस परमपद विष्णु में लीन हो जाए तो साधक को भ्रामरी की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। भ्रामरी की सिद्धि प्राप्त होने पर साधक को वास्तविक समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष :- नाद की ध्वनि को किसके अन्तर्गत माना गया है ? उत्तर है ज्योति के अधीन। मन को किसके अधीन माना जाता है ? उत्तर है ज्योति के। हमारा मन किसके अन्दर लीन होने से हमें समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है ? उत्तर है परमपद विष्णु के अन्तर्गत।

जपादष्टगुणं ध्यानं ध्यानादष्टगुणं तपः। तपसोऽष्टगुणं नादः नादात्परतरं नहि ॥82॥

भावार्थ :- जप से आठ गुणा ज्यादा प्रभावी ध्यान होता है। ध्यान से भी आठ गुणा अधिक प्रभावशाली तप होता है। उस तप से भी आठ गुणा ज्यादा प्रभावी नाद होता है। लेकिन उस नाद से ज्यादा प्रभावी अन्य कुछ भी नहीं होता है।

मूर्छा प्राणायाम विधि व लाभ

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्। सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा। आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ॥83॥

भावार्थ :- सभी विषयों को छोड़कर सुखपूर्वक श्वास को रोकते हुए अपने मन को दोनों भौहों के बीच में सुखपूर्वक लगाना ही मनोमूर्च्छा प्राणायाम होता है।

जब आत्मा और मन का आपस में योग अर्थात् मिलन हो जाता है तो वह निश्चित रूप से आनन्द की स्थिति कहलाती है।

विशेष :- मूर्च्छा प्राणायाम से किसकी प्राप्ति होती है ? उत्तर है परम आनन्द की। मूर्च्छा प्राणायाम में मन को कहाँ पर स्थित (लगाते) करते हैं ? उत्तर दोनों भौहों के बीच में।

केवली प्राणायाम वर्णन

हङ्कारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः। षड्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः। अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा ॥84॥

भावार्थ :- 'हं' शब्द की ध्वनि के साथ प्राणवायु शरीर के अन्दर प्रवेश करती है और **'स'** शब्द की ध्वनि के साथ प्राणवायु शरीर से बाहर निकलती है। इस प्रकार मनुष्य एक दिन (दिन व रात) में इक्कीस हजार छः सौ (21600) बार इस अजपा नामक गायत्री का जप करता है।

विशेष :- प्राणवायु किस शब्द की ध्वनि के साथ शरीर के अन्दर प्रवेश करता है ? उत्तर 'हं' शब्द की ध्वनि के साथ। किस ध्वनि के साथ प्राणवायु शरीर से बाहर निकलती है ? उत्तर है 'स' की ध्वनि के साथ। पूरे एक दिन अर्थात् दिन व रात में मनुष्य कितनी बार अजपा जप गायत्री का जप करता है ? उत्तर है इक्कीस हजार छः सौ (21600)

मूलाधारे यथा हंसस्तथा हि हृदि पंकजे। तथा नासापुटद्वन्द्वे त्रिविधं संगमागम् ॥85॥

भावार्थ :- ऊपर वर्णित 'हंस' (हं व स) का आवागमन मूलाधार चक्र में, हृदय प्रदेश में व दोनों नासिका छिद्रों अर्थात् इन तीनों के संगम से होकर आता-जाता है।

विशेष :- हंस की ध्वनि का आवागमन कहा-कहा से होता है ? उत्तर मूलाधार, हृदय प्रदेश व दोनों नासिका छिद्रों से।

विभिन्न कार्यों के समय वायु की दूरी

षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्। देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावाद् द्वादशाङ्गुलिः ॥86॥

गायने षोडशाङ्गुल्यो भोजने विंशतिस्तथा। चतुर्विंशाङ्गुलिः पन्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः। मैथुने षट्त्रिंशद् व्यायामे च ततोधिकम् ॥87॥

स्वभावेऽस्य गतेर्न्यूने परमायुः प्रवर्धते। आयुः क्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद्गते ॥88॥

भावार्थ :- सभी कर्मों के आधार इस शरीर की लम्बाई छियानवें अँगुल (यह लम्बाई व्यक्ति की स्वयं की अँगुलियों के अनुसार होती है) होती है। सामान्यतः शरीर से

बाहर निकलते हुए इसकी लम्बाई या दूरी बारह अँगुल (12) होती है।
किसी भी प्रकार का गायन अर्था गाना गाते हुए इसकी लम्बाई सोलह अँगुल (16) होती है, भोजन करते समय यह दूरी बीस अँगुल (20) हो जाती है। पैदल चलते हुए इसकी दूरी चौबीस अँगुल (24) होती है, नींद के समय यह दूरी तीस अँगुल (30) होती है। सम्भोग क्रिया करते हुए यह दूरी और भी ज्यादा अर्थात् छत्तीस अँगुल (36) हो जाती है व शारीरिक व्यायाम करते समय यह दूरी और भी ज्यादा हो जाती है।
इस प्रकार स्वभाविक रूप से वायु की गति अर्थात् दूरी कम होने पर आयु अधिक (लम्बी) होती है और यह गति अर्थात् दूरी जितनी अधिक होगी उतनी ही मनुष्य की आयु की हानि (आयु घट जाएगी) होगी।
विशेष :- यहाँ पर पहले वायु की गति या दूरी को समझना जरूरी है तभी इस श्लोक का अर्थ समझा जा सकता है। वायु की गति या दूरी का अर्थ होता है जब हम श्वास को शरीर के बाहर छोड़ते हैं। तब उस वायु का प्रभाव जितनी दूर तक होता है वही उसकी दूरी अथवा गति होती है। इसको मापने के लिए हम अपनी नासिका के सामने एक हल्की रुई (कपास का शोधित रूप) का टुकड़ा रखें और प्राणवायु को बाहर छोड़ें। अब जहाँ तक वह रुई का टुकड़ा हिलता रहेगा वहीं तक आपके वायु की दूरी कहलाती है। इस दूरी को स्वयं की अँगुलियों के द्वारा मापा जाता है। जब हम तेज गति से श्वास लेते व छोड़ते हैं तो यह दूरी बढ़ जाती है और जैसे ही हम लम्बी वगहरी श्वास लेते व छोड़ते हैं तब यह दूरी कम हो जाती है।
अब इससे सम्बंधित कुछ प्रश्नों का वर्णन भी करते हैं जो परीक्षा में पूछे जा सकते हैं।
व्यक्ति की लम्बाई कितने अँगुल होती है ? उत्तर है स्वयं (खुद) की छियानवें अँगुल (96)। हमारी श्वास की बाहर निकलते हुए सामान्यतः दूरी कितनी अँगुल होती है ? उत्तर बारह अँगुल (12)। गायन में वायु की दूरी कितनी होती है ? उत्तर सोलह अँगुल (16)। बीस अँगुल (20) की दूरी किस कार्य के समय होती है ? उत्तर है भोजन के समय। चलते समय वायु की गति क्या होती है ? उत्तर है चौबीस अँगुल (24)। नींद के समय वायु की कितनी दूरी होती है ? उत्तर है तीस अँगुल (30)। सम्भोग के समय वायु की दूरी ? उत्तर छत्तीस अँगुल (36)। सबसे ज्यादा दूरी वायु की किस कार्य के समय होती है ? उत्तर है शारीरिक व्यायाम करते हुए।
तस्मात् प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते। वायुना घट सम्बन्धे भवेत् केवलकुम्भकम् ॥89॥
यावज्जीवो जपेन्मन्त्रमजपासङ्ख्यकेवलम्। अद्यावधि धृतं सङ्ख्याविभ्रमं केवलीकृते ॥90॥
भावार्थ :- जब तक हमारे शरीर में प्राणवायु स्थित रहती है तब तक हमारी मृत्यु नहीं हो सकती। जब वायु का शरीर से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है अर्थात् जब वायु शरीर में स्थिर हो जाती है तब वह अवस्था केवल कुम्भक की होती है।
जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक उसे उस अजपा जप गायत्री के निर्धारित जप का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। जिसकी अब तक कि निर्धारित संख्या इक्कीस हजार छः सौ बताई गई है। केवल कुम्भक प्राणायाम के द्वारा ही इस संख्या में परिवर्तन किया जा सकता है।
अत एव हि कर्तव्यः केवलीकुम्भको नरैः। केवली चाजपासङ्ख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥91॥
भावार्थ :- अतः मनुष्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ केवली कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। केवली कुम्भक व मनोन्मनी अवस्था (समाधि) से इस अजपा जप से दो गुणा अधिक लाभ प्राप्त होता है।

केवली कुम्भक विधि

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत्। एकादिकचतुःषष्टिं धारयेत् प्रथमे दिने ॥92॥
केवलीमष्टधां कुर्याद् यामे यामे दिने दिने। अथवा पञ्चधा कुर्याद् यथा तत् कथयामि ते ॥93॥
प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्ये रात्रिचतुर्थके। त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् सममाने दिने दिने ॥94॥
पञ्चवारं दिने वृद्धिर्वारैकं च दिने तथा। अजपा परिमाणं च यावत् सिद्धिः प्रजायते ॥95॥
भावार्थ :- अपने दोनों नासिका छिद्रों से वायु को अन्दर भरकर उसे अन्दर ही रोके रखना केवली कुम्भक होता है। पहले दिन के अभ्यास में साधक को चौसठ (64) बार ही इसका अभ्यास करना चाहिए।
इसके बाद साधक इस अभ्यास को बढ़ाते हुए प्रतिदिन केवल कुम्भक का अभ्यास हर तीन-तीन घण्टे में एक बार और पूरे दिन में कुल आठ बार इसका अभ्यास करे। अन्यथा जो आठ बार अभ्यास न कर सके उसे प्रतिदिन पाँच बार इसका अभ्यास करना चाहिए। दिन में किस-किस समय इसका अभ्यास करना चाहिए ? अब इसके विषय में बताता हूँ :- साधक इसका अभ्यास प्रातःकाल, दोपहर, सायंकाल, आधी रात को व रात्रि के चौथे पहर अर्थात् सुबह तीन से चार बजे के दौरान। यदि पाँच बार भी इसका अभ्यास न कर सकें तो वह प्रतिदिन तीन बार (प्रातः, दोपहर व सायंकाल) में एक समान संख्या में इसका अभ्यास करे।
इस प्रकार प्रत्येक पाँचवें दिन में इसके अभ्यास में एक बार की वृद्धि तब तक करनी चाहिए जब तक कि इस अजपा जप की संख्या में वृद्धि होकर इसमें सिद्धि नहीं मिल जाती।
विशेष :- केवली कुम्भक का प्रथम दिन कितने चक्र अभ्यास करना चाहिए ? उत्तर चौसठ बार (64)। प्रतिदिन कितने घण्टे के अन्तराल में केवली कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए ? उत्तर है प्रत्येक तीन घण्टे के अन्तराल में। एक दिन में अधिकतम कितनी बार इसका अभ्यास करना चाहिए ? उत्तर है आठ बार (8)। किन पाँच समय पर इसका अभ्यास करने का निर्देश दिया गया है ? उत्तर प्रातःकाल, दोपहर, सायंकाल, आधी रात व रात्रि के चौथे पहर में। कितने दिन बाद इसके अभ्यास को बढ़ाना चाहिए ? उत्तर प्रत्येक पाँचवें दिन।

केवली कुम्भक का लाभ

प्राणायामं केवलीं च तदा वदति योगवित्। केवली कुम्भके सिद्धे किन्न सिद्ध्यति भूतले ॥96॥
भावार्थ :- केवली प्राणायाम के सिद्ध होने पर योगी योग को भली-भाँति जानने लगता है। केवली कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि होने पर इस पृथ्वी पर ऐसी कोई सिद्धि नहीं है जो साधक को प्राप्त न हो सके या इस पृथ्वी पर ऐसा कोई सिद्धि नहीं है जो उसके लिए अप्राप्य हो।
॥इति पञ्चमोपदेशः समाप्तः॥

6 छटा अध्याय (ध्यान वर्णन)

घेरण्ड संहिता के छठे अध्याय में ध्यान योग का उपदेश दिया गया है। महर्षि घेरण्ड ने ध्यान की तीन अवस्थाएँ (स्थूल ध्यान, ज्योतिध्यान व सूक्ष्म ध्यान) मानी हैं। ध्यान का प्रतिफल बताते हुए कहा है कि ध्यान के अभ्यास से योगी साधक को अपना स्वयं का प्रत्यक्षीकरण होता है। ध्यान को महर्षि घेरण्ड योग का छठा अंग मानते हैं।

ध्यान के प्रकार

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः। स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा। सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डलीपरदेवता ॥1॥

भावार्थ :- ध्यान के तीन प्रकार होते हैं :- स्थूलध्यान, ज्योतिध्यान व सूक्ष्मध्यान। इनमें से स्थूल ध्यान को मूर्ति अथवा ठोस पदार्थ पर किया जाने वाला, ज्योति ध्यान को प्रकाशरूप अथवा तेजोमय पर किया जाने वाला व कुण्डलिनी से भी परे अर्थात् बिन्दुमय ब्रह्मा पर किया जाने वाला ध्यान सूक्ष्म ध्यान होता है।

विशेष :- ध्यान के कितने प्रकारों का वर्णन किया गया है ? उत्तर है तीन (स्थूल, ज्योति व सूक्ष्म)। किस ध्यान को मूर्ति अथवा ठोस ध्यान कहा जाता है ? उत्तर है स्थूलध्यान। तेजोमय ध्यान किस अवस्था को कहा गया है ? उत्तर है ज्योतिध्यान। कुण्डलिनी से परे या बिन्दु ध्यान किसे कहा गया है ? उत्तर है सूक्ष्मध्यान।

स्थूल ध्यान विधि वर्णन

स्वकीयहृदये ध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम्। तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नं वालुकामयम् ॥2॥
चतुर्दिक्षु निम्बतरुः बहुपुष्पसमन्वितः। निम्बो पवनसं कूलेवेष्टितं परिखा इव ॥3॥
मालतीमल्लिकाजातीकेशरैश्चम्पकैस्तथा । पारिजातैः स्थलपद्मैर्गन्धामोदितदिङ्मुखैः ॥4॥
तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम्। चतुः शाखाचतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितम् ॥5॥
भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुञ्जन्ति निगदन्ति च। ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्यमण्डपम् ॥6॥
तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम्। तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद् यद्ध्यानं गुरु भाषितम् ॥7॥
यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम्। तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः ॥8॥

भावार्थ :- अपने हृदय प्रदेश में अमृत रूपी उत्तम समुद्र का ध्यान करते हुए उसके बीच (समुद्र के) में रत्नों से परिपूर्ण बालुकामय (बालु रेत के) के द्वीप अर्थात् टापू का ध्यान करना चाहिए।

उसके चारों ओर बहुत सारे फलों से परिपूर्ण अर्थात् लदे हुए नीम के पेड़ हों और वह नीम के बाग उसके चारों ओर खाई के समान प्रतीत हो रहे हों।

तथा मालती, मल्लिका, चमेली, केशर, चम्पा, स्थल कमल, व हारश्रृंगार के फूलों की सुगन्ध सभी दिशाओं को सुगन्धित कर रही हैं।

इन सभी के बीच में ही योगी द्वारा एक अत्यंत मनमोहक कल्पवृक्ष का स्मरण अथवा ध्यान करे। जिसकी अनेक शाखाओं से चारों वेद रूपी ज्ञान के फल निरन्तर फलित हो (प्रतिदिन बढ़ते हों) रहे हों।

वहाँ पर (उस उद्यान या बाग में) भँवरे व कोयल अपनी मधुर गुञ्जार (गायन) कर रहे हों। वहीं पर अपने चित्त को एक जगह पर स्थिर करके मणियों से परिपूर्ण मण्डप का ध्यान करना चाहिए।

योगी को उसके बीच में मनमोहक पल का स्मरण अथवा ध्यान करना चाहिए। साथ ही गुरु ने जिस भी देवता का ध्यान करने की बात कही है, उसी का ध्यान करे। जिस देवता का जो भी आभूषण और वाहन बताया गया है। ठीक उसी आभूषण व वाहन का ध्यान करना स्थूल ध्यान होता है।

विशेष :- ऊपर वर्णित सभी ध्यान के तत्त्व आवश्यक हैं। विद्यार्थी इन्हें ध्यान से पढ़ें।

प्रकारान्तरेण स्थूल ध्यान वर्णन

सहस्त्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत्। विलग्नसहितं पद्मं द्वादशैर्दलसंयुतम् ॥9॥
शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्बीज भाषितम्। हसक्षमलवरयूं हसखफ्रें यथाक्रमम् ॥10॥
तन्मध्ये कर्णिकायां तु अकथादि रेखात्रयम्। हलक्षकोणसंयुक्तं प्रणवं तत्र वर्तते ॥11॥
नादबिन्दुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम्। तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्तते ॥12॥
ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम्। श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम् ॥13॥
शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम्। एवं विधगुरुध्यानात् स्थूलध्यानं प्रसिध्यति ॥14॥

भावार्थ :- हजारों कमलों के बीच में बारह (12) पंखुड़ियों अथवा पत्तों से युक्त एक कमल स्थित है। योगी उसका चिन्तन करे अथवा उसका ध्यान करे।

उस शुक्ल वर्ण व तेजोमय से युक्त कमल की बारह पंखुड़ियाँ निम्न बारह बीजअक्षरों के क्रम से सुशोभित हैं – **'ह, ल, क्ष, म, ल, व, र, यूं, ह, स, ख व फें'।**

उस कर्णिका के बीच में **'अ, क, थ',** आदि से बनी हुई तीन रेखाएं हैं। जो **'ह, ल, क्ष',** वर्णों से युक्त अर्थात् से बना हुआ त्रिकोण है। जहाँ पर ओंकार अथवा प्रणव स्थित है।

वहाँ पर नादबिन्दु से युक्त मनमोहक पीठ का ध्यान करे। जिसके ऊपर **'हंस'** युग्मों से युक्त पादुका स्थित है।

वहीं पर दो भुजाओं व तीन नेत्रों (आँखों) वाले गुरुदेव विराजमान हैं। जिन्होंने श्वेत अर्थात् सफेद कपड़े पहने हैं और शरीर पर अच्छी सुगन्ध प्रदान करने वाले पदार्थों का लेप किया हुआ है। ऐसे गुरुदेव का ध्यान करना चाहिए।

वह गुरु सफेद फूलों की माला पहने हुए हैं और जो लाल वर्ण की शक्ति से सम्पन्न हैं। ऐसे गुरुदेव का ध्यान करने से स्थूल ध्यान की विधि से साधक को सिद्धि की प्राप्ति होती है।

विशेष :- ऊपर वर्णित सभी श्लोक आवश्यक हैं। अतः सभी को ध्यानपूर्वक पढ़ें।

ज्योतिध्यान वर्णन

कथितं स्थूलध्यानं तु तेजोध्यानं शृणुष्व मे। यद्धयानेन योग सिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव ॥15 ॥

भावार्थ :- स्थूल ध्यान का वर्णन करने के बाद अब ज्योति ध्यान का वर्णन सुनो, जिसका ध्यान करने से साधक को स्वयं का प्रत्यक्षीकरण होता है साथ ही योग में सिद्धि भी प्राप्त होती है।

ज्योतिध्यान विधि

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकाररूपिणि। जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिकाकृति:। ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम् ॥16 ॥

भावार्थ :- हमारे मूलाधार चक्र में सर्प की आकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति विराजमान है। वहीं पर दीपक की लौ के समान जीवात्मा का भी निवास (विद्यमान) है। वहाँ पर प्रकाश स्वरूप ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। इस तेजोमय ध्यान को श्रेष्ठ ध्यान कहा गया है।

विशेष :- कुण्डलिनी शक्ति का निवास स्थान कहा बताया गया है ? उत्तर मूलाधार चक्र में। कुण्डलिनी किस रूप में विराजमान है ? उत्तर कुण्डली मारे हुए सर्प (सांप) के रूप में।

प्रकारान्तरेण ज्योतिध्यान

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेज: प्रणवात्मकम्। ध्यायेत् ज्वालावतीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि ॥17 ॥

भावार्थ :- दोनों भौहों के बीच में और मन से ऊपर जो प्रणव रूपी तेज (ओंकार) है। वहाँ पर अनन्त ज्वालाओं से परिपूर्ण (युक्त) जो तेजोमय ध्यान है। उसका ध्यान करना भी ज्योति ध्यान कहलाता है।

सूक्ष्म ध्यान वर्णन

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मध्यानं शृणुष्व मे। बहुभाग्यवशाद् यस्य कुण्डली जाग्रती भवेत् ॥18 ॥

आत्मना सहयोगेन नेत्ररंध्राद्विनिर्गता। विहरेद् राजमार्गे च चञ्चलत्वान्न द्दश्यते ॥19 ॥

शाम्भवीमुद्रया योगी ध्यानयोगेन सिध्यति। सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ॥20 ॥

भावार्थ :- हे चण्ड! तेजोमय ध्यान (ज्योति ध्यान) सुनने के बाद अब सूक्ष्म ध्यान को सुनो। वह साधक बहुत भाग्यशाली होता है जिसकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है। इसके बाद वह शक्ति आत्मा के सहयोग से आँखों के माध्यम से बाहर निकल कर राजमार्ग पर विचरण करती (घूमती) है और जो चञ्चलता के कारण दिखाई नहीं देती है।

योगी साधक शाम्भवी मुद्रा के माध्यम से ध्यान योग को सिद्ध करता है। यह सूक्ष्म ध्यान देवताओं के लिए भी दुर्लभ (कठिनता से प्राप्त होने वाला) होता है। अत: इसे पूरी तरह से गुप्त रखना चाहिए।

विशेष :- किस ध्यान के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है ? उत्तर है सूक्ष्म ध्यान से। सूक्ष्म ध्यान को किस मुद्रा के द्वारा सिद्ध किया जाता है ? उत्तर है शाम्भवी मुद्रा द्वारा।

सबसे श्रेष्ठ ध्यान

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते। तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम् ॥21 ॥

भावार्थ :- स्थूल ध्यान से सौ गुणा अच्छा तेजोध्यान (ज्योति ध्यान) कहा गया है और तेजोध्यान ध्यान से भी लाख गुणा अच्छा यह अति श्रेष्ठ सूक्ष्म ध्यान होता है।

विशेष :- कुछ परीक्षा के लिए उपयोगी प्रश्न :- तेजोध्यान स्थूल ध्यान से कितने गुणा श्रेष्ठ है ? उत्तर है सौ गुणा (100)। सूक्ष्म ध्यान तेजो ध्यान से कितना श्रेष्ठ है ? उत्तर है लाख गुणा श्रेष्ठ है। प्रारम्भिक ध्यान कौन सा होता है ? उत्तर स्थूल ध्यान। सबसे श्रेष्ठ ध्यान की विधि कौन सी बताई गई है ? उत्तर है सूक्ष्म ध्यान विधि।

इति ते कथितं चण्ड ध्यानयोगं सुदुर्लभम्। आत्मा साक्षाद् भवेद् यस्मात्तस्माद् द्धयानं विशिष्यते ॥22 ॥

भावार्थ :- इस प्रकार हे चण्ड! मैंने तुम्हे यह अत्यंत दुर्लभ ध्यान योग बताया है। यह ध्यान योग अत्यंत श्रेष्ठ योग साधना है। क्योंकि इसके द्वारा साधक आत्मा का साक्षात्कार करता है।

इति षष्ठोपदेश: समाप्त: ॥

7 सातवां अध्याय (समाधि योग)

घेरण्ड संहिता का यह अन्तिम अध्याय है। जिसमें महर्षि घेरण्ड ने अपने सप्तांग योग के अन्तिम अंग अर्थात् समाधि योग का वर्णन किया है। घेरण्ड संहिता के प्रत्येक अध्याय में योग के एक अंग का वर्णन किया गया है। जिसके अनुसार सात अध्यायों के माध्यम से इनका सप्तांग योग पूर्ण होता है। जिस प्रकार अन्य योग आचार्यो ने समाधि को योग के अन्तिम अंग के रूप माना है। ठीक उसी प्रकार इन्होंने भी समाधि को ही योग का अन्तिम अंग माना है। इन्होंने समाधि के छ: (6) प्रकार माने हैं। जिनमें क्रमशः ध्यानयोग समाधि, नादयोग समाधि, रसानन्द योग समाधि, लयसिद्धि योग समाधि, भक्तियोग समाधि व राजयोग का वर्णन मिलता है। समाधि योग के फल के रूप में साधक को निर्लिप्तता (पूर्ण मुक्ति) की प्राप्ति होती है। समाधि को सर्वोपरि मानते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि यह साधना का अन्तिम पड़ाव है। इसके बाद साधक मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। जिससे वह जन्म-मरण के क्रम से पूरी तरह मुक्त हो जाता है।

समाधिश्च परो योगो बहुभाग्येन लभ्यते। गुरो: कृपा प्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तित: ॥1 ॥

भावार्थ :- यह समाधि नामक श्रेष्ठ योग बहुत बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। जो साधक गुरु की भक्ति करते हैं और जिनके ऊपर गुरु की कृपा रुपी प्रसाद अथवा आशीर्वाद होता है। उन्ही को इस समाधि योग नामक श्रेष्ठ योग की प्राप्ति होती है।

विशेष :- समाधि योग की प्राप्ति किन साधकों को होती है ? उत्तर है गुरु की भक्ति करने वालों को व जिनके ऊपर गुरु की विशेष कृपा द्दष्टि होती है।

विद्याप्रतीति: स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनस: प्रबोध:। दिने दिने यस्य भवेत् स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्य: ॥2 ॥

भावार्थ :- जिस साधक को ज्ञान प्राप्त करने में, अपने गुरु के प्रति व अपनी आत्मा के प्रति श्रद्धा का भाव होता है साथ ही जिसे अपने मन का पूरा ज्ञान होता है। वह साधक दिन-प्रतिदिन योग के अभ्यास में ऊँची स्थिति को प्राप्त करता है।

घटाद्भिन्नं मन: कृत्वा ऐक्यं कुर्यात् परात्मनि। समाधिं तं विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभि: ॥3॥
अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्। सच्चिदानंदरूपोऽहं नित्यमुक्त: स्वभाववान् ॥4॥
भावार्थ :- जब साधक अपने मन को शरीर से अलग समझकर उसका (मन का) परमात्मा के साथ एकीकरण कर देता है। तब वह समाधि की अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में साधक जीवन की अनेक दशाओं (सांसारिक अवस्थाओं) से पूरी तरह मुक्त हो जाता है।
इस प्रकार समाधि भाव को प्राप्त होने पर साधक में मैं ब्रह्मा हूँ, ब्रह्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ, मुझमे ब्रह्म भाव है न की किसी प्रकार के दु:ख का भाव है। मैं सदैव मुक्त स्वभाव वाला, सत् चित्त व आनन्द के स्वरूप से परिपूर्ण हूँ।
विशेष :- समाधि की अवस्था में मन का किसके साथ एकीकरण हो जाता है ? उत्तर है परमात्मा के साथ। साधक ब्रह्म भाव से कब परिपूर्ण होता है ? उत्तर है समाधि प्राप्ति के समय।
समाधि के छ: (6) प्रकार
शाम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्या योनिमुद्रया। ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥5॥
पञ्चधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा। षड्विधोऽयं राजयोग: प्रत्येकमवधारयेत् ॥6॥
भावार्थ :- शाम्भवी, भ्रामरी, खेचरी व योनिमुद्राओं से क्रमशः ध्यान योग समाधि, नादयोग समाधि, रसानन्द समाधि व लयसिद्धि योग नामक चार प्रकार की समाधियों में सिद्धि प्राप्त होती है।
पाँचवी प्रकार की समाधि भक्तियोग व छठी मनोमूर्च्छा से राजयोग नामक समाधि की प्राप्ति होती है। साधक को प्रत्येक समाधि को धारण (आत्मसात) करना चाहिए।
विशेष :- ध्यान योग समाधि किस मुद्रा का परिणाम है ? उत्तर है शाम्भवी मुद्रा का। खेचरी मुद्रा के अभ्यास से कौन सी समाधि की प्राप्ति होती है ? उत्तर है रसानन्दयोग समाधि की। भ्रामरी मुद्रा किस समाधि की परिचायक है ? उत्तर है नादयोग समाधि की। लयसिद्धि योग समाधि किसके अभ्यास से सिद्ध होती है ? उत्तर है योनिमुद्रा के अभ्यास से। भक्तियोग समाधि को कौन सी समाधि माना गया है ? उत्तर है पाँचवी समाधि। सबसे उच्च व अन्तिम समाधि का क्या नाम है ? उत्तर है राजयोग समाधि। राजयोग समाधि किस मुद्रा का फल है ? उत्तर है मनोमूर्च्छा मुद्रा का। घेरण्ड संहिता में कुल कितनी समाधि बताई गई हैं ? उत्तर है छ: (6) प्रकार की।
ध्यान योग समाधि वर्णन
शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्। बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥7॥
खमध्ये कुरु चात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु। आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते। सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नर: ॥8॥
भावार्थ :- शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करते हुए साधक को अपनी आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए साथ ही ब्रह्म स्वरूप बिन्दु को देखते हुए वहीं पर अपने मन को केन्द्रित करें।
अब अपनी आत्मा को आकाश के बीच में व आकाश को आत्मा के बीच में स्थित करें। आत्मा को आकाश के बीच में स्थित करने पर किसी प्रकार की कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। ऐसा करने पर मनुष्य सदैव समाधि को प्राप्त करके आनन्दमय हो जाता है। यह ध्यान योग समाधि कहलाती है।
विशेष :- शाम्भवी मुद्रा में आत्मा को कहा पर स्थित किया जाता है ? आकाश के मध्य अथवा बीच में।
नादयोग समाधि वर्णन
अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत्। मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृङ्गनादं ततो भवेत् ॥9॥
अन्त:स्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत्। समाधिर्जायते तत्र आनन्द: सोऽहमित्यत: ॥10॥
भावार्थ :- वायु को धीमी गति के साथ शरीर के अन्दर भरकर भ्रामरी कुम्भक करे। इसके बाद उस वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालते हुए भँवरे जैसा नाद (उच्चारण अथवा ध्वनि) उत्पन्न होता है।
इस प्रकार शरीर के अन्दर हो रहे उस नाद (ध्वनि) को सुनकर वहीं पर अपने मन को केन्द्रित करने से साधक की समाधि लग जाती है और 'जहाँ पर आनन्द वहीं पर मैं' ('सोऽहम') के भाव की प्राप्ति होती है। इसे नादयोग समाधि कहा जाता है।
विशेष :- भ्रामरी मुद्रा के अभ्यास के समय किस प्रकार की ध्वनि अथवा नाद की उत्पत्ति होती है ? उत्तर है भँवरे की।
रसानन्दयोग समाधि वर्णन
साधनात् खेचरीमुद्रा रसनोर्ध्वंगता यदा। तदा समाधिसिद्धि: स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम् ॥11॥
भावार्थ :- खेचरी मुद्रा की साधना (अभ्यास) करने पर साधक की जीभ ऊपर की ओर चली जाती है। जिसके परिणामस्वरूप साधक बिना किसी अन्य सामान्य क्रियाओं के ही समाधि को सिद्ध कर लेता है। इसे रसानन्दयोग समाधि कहा गया है।
लयसिद्धि योग समाधि
योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्। सुश्रृङ्गाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि ॥12॥
आनन्दमय: समभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत् । अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते ॥13॥
भावार्थ :- योनिमुद्रा के द्वारा साधक स्वयं को शक्तिशाली बनाकर परमात्मा के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करे। आनन्दमय होकर ब्रह्मा के साथ एकीकरण का भावना करने से 'मैं ही ब्राह्म हूँ', इस प्रकार की अद्वैत (एक ही भाव अथवा अभेद) समाधि की प्राप्ति होती है।
इसे लयसिद्धि योग समाधि कहते हैं।
भक्तियोग समाधि
स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम्। चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम् ॥14॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभाव: प्रजायते। समाधि: सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी ॥15॥

भावार्थ :- अपने हृदय प्रदेश में अपने इष्टदेव का ध्यान करें और परमानन्द के साथ भक्तियोग का चिन्तन करना चाहिए।
जब साधक का हृदय परमानन्द के अश्रुओं से उदित हो जाता है तब उसकी भावना विशेष प्रकार के भक्तिभाव से परिपूर्ण हो जाती है। जिससे मनोन्मनी (मन में उन्मनी भाव से) समाधि की प्राप्ति हो जाती है।
इसे भक्तियोग समाधि कहा जाता है।
विशेष :- भक्तियोग समाधि में साधक अपने हृदय में किसका ध्यान करता है ? उत्तर है अपने इष्टदेव का। भक्तियोग से कौन सी समाधि प्राप्त होती है ? उत्तर है मनोन्मनी समाधि।
राजयोग समाधि वर्णन
मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्। परमात्मन: समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात् ॥16॥
भावार्थ :- साधक मनोमूर्च्छा की साधना करके अपने मन को आत्मा में केन्द्रित करे। इस प्रकार मन का परमात्मा से संयोग (मिलन) होने पर साधक को समाधि की प्राप्ति हो जाती है। यह राजयोग समाधि कहलाती है।
विशेष :- राजयोग की समाधि किसके द्वारा होती है ? उत्तर है मनोमूर्च्छा द्वारा।
समाधि की उपयोगिता
इति ते कथितश्चण्ड! समाधिर्मुक्तिलक्षणम्। राजयोगसमाधि: स्यादेकात्मन्येव साधनम्। उन्मनी सहजावस्था सर्वे चैकात्मवाचका: ॥17॥
भावार्थ :- हे चण्डकापालिक! इस प्रकार मैंने तुम्हें मुक्ति प्राप्त करवाने वाली समाधि के लक्षण बताये हैं। मन व आत्मा में एकरूपता करवाने वाले साधन ही समाधि कहलाते हैं। राजयोग समाधि, उन्मनी अवस्था या सहजावस्था यह सभी एक ही समाधि के पर्यायवाची शब्द हैं।
विशेष :- समाधि के पर्यायवाची किनको माना गया है ? उत्तर है राजयोग, उन्मनी अवस्था व सहजावस्था को।
विष्णु की सर्वत्र विद्यमानता
जले विष्णु: स्थले विष्णुर्विष्णु: पर्वतमस्तके। ज्वालामालाकुले विष्णु: सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥18॥
भावार्थ :- जल में विष्णु, स्थल (भूमि) में विष्णु, पर्वत के मस्तक अर्थात् चोटी पर विष्णु, ज्वालासमूह अर्थात् अग्नि में विष्णु का निवास है। यह पूरा जगत अर्थात् संसार विष्णु से युक्त (परिपूर्ण) है।
विशेष :- विष्णु का निवास कहाँ-कहाँ माना गया है ? उत्तर है जल, स्थल, पर्वत, अग्नि व सम्पूर्ण संसार में विष्णु का निवास कहा गया है।
भूचरा: खेचराश्चामी यावन्तो जीवजन्तव:। वृक्षगुल्मलतावल्लीतृणाद्या वारि पर्वता:। सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि ॥19॥
भावार्थ :- भूमि पर घूमने वाले, आकाश में घूमने वाले जीवजन्तु, पेड़, गुल्म, लता (टहनियाँ), बेल, समुद्र और पर्वत इन सभी को ब्रह्म का ही अंश जानते हुए सभी को आत्मा में देखना चाहिए।
आत्मा घटस्थचैतन्यमद्वैतं शाश्वतं परम्। घटादिभिन्नतो ज्ञात्वा वीतरागं विवासनम् ॥20॥
भावार्थ :- इस शरीर में स्थित आत्मा (चैतन्य) ही परम शाश्वत अर्थात् सत्य और अद्वैत (एक ही भाव से युक्त) है। इसे (आत्मा को) शरीर से अलग जानने से ही साधक राग व वासना से रहित होता है।
एवं विधि: समाधि: स्यात् सर्वङ्कल्पवर्जित:। स्वदेहे पुत्रदारादिबान्धवेषु धनादिषु। सर्वेषु निर्ममो भूत्वा समाधिं समवाप्नुयात् ॥21॥
भावार्थ :- इस प्रकार यह समाधि सभी प्रकार के संकल्पों से रहित होती है। इसलिए साधक को अपने शरीर, पुत्र, स्त्री, मित्र, सहयोगियों व धन आदि के प्रति ममता रहित (आसक्ति रहित) होकर समाधि को प्राप्त करना चाहिए।
विशेष :- समाधि भाव को प्राप्त करने के लिए साधक को किन-किन आसक्तियों से रहित होना जरूरी है ? उत्तर है अपने शरीर, पुत्र, स्त्री, मित्र, सहयोगी व धन की आसक्ति से रहित होना आवश्यक है।
तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विविधानि च। तेषां संक्षेपमादाय कथितं मुक्तिलक्षणम् ॥22॥
भावार्थ :- इस समाधि रूपी गुप्त अमृत तत्त्व जिसकी विधि स्वयं भगवान शिव के द्वारा बताई गई है। मैंने उस समाधि के सभी लक्षणों को संक्षिप्त रूप में बता दिया है।
इति ते कथितश्चण्ड! समाधिर्दुर्लभ: पर:। यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले ॥23॥
भावार्थ :- हे चन्डकापालिक! यद्यपि यह समाधि रूपी श्रेष्ठ ज्ञान बहुत ही दुर्लभ (कठिनता से प्राप्त होने वाला) है। जिसका वर्णन मैंने तुम्हारे सामने किया है। जो भी साधक इसे जान लेता है। वह साधक जन्म-मरण के बंधन से पूरी तरह मुक्त हो जाता है अर्थात् उसका धरती पर दोबारा जन्म नहीं होता।
विशेष :- समाधि प्राप्ति का क्या फल अथवा लक्षण कहा गया है ? उत्तर है पुनर्जन्म मुक्ति अथवा जन्म-मरण के क्रम से मुक्ति।
॥इति सप्तमोपदेश: समाप्त: ॥

इसी के साथ घेरण्ड संहिता का सातवां अध्याय (समाधि योग वर्णन) समाप्त हुआ।